प्राकृत भारती पुष्प-९९

विज्ञान के आलोक में

जीव-अजीव तत्त्व

कन्हैयालाल लोढा
अधिष्ठाता
श्री जैन सिद्धान्त शिक्षण संस्थान
बजाजनगर, जयपुर

सम्यग्ज्ञान प्रचारक मंडल, जयपुर
प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर

प्रकाशकीय

जैन दर्शन में प्रकृति के मूलभूत तत्वों के विषय में गहन चिन्तन किया गया है। किन्तु पारम्परिक साहित्य में उस विषय के आध्यात्मिक पहलुओं की चर्चा पर ही अधिक जोर दिया गया है। उसके वैज्ञानिक पक्ष को अधिकांशतः अछूता ही छोड़ देने की परम्परा रही है।

आधुनिक विज्ञान के विकास के साथ एक धारा भारतीय विचारकों में प्रारम्भ हुई जो प्राचीन वाङ्मय में हमारे पुरखों की वैज्ञानिक उपलब्धियों को खोजने लगी। पर यह प्रयास केवल समानता दिखाने तक ही सीमित हो गया। बहुत कम प्रयास ऐसे हुए जो भारतीय उपलब्धियों को ऐसे वैज्ञानिक धरातल पर स्थापित करते जहाँ से अभिनव खोज की धारायें निकल पातीं।

श्री कन्हैयालाल लोढ़ा उन कतिपय चिन्तकों में है जो प्राचीन मनीषियों के चिन्तन को वह भूमिका देने का प्रयास करते है जहाँ से अन्वेषण की प्रेरणा मिले। विज्ञान और दर्शन एक दूसरे के पूरक की दृष्टि से देखे जा सकें, एक दूसरे से विपरीतगामी नहीं। हम उनके चिन्तन की एक कड़ी "जीव-अजीव तत्त्व" अपने पाठकों के समक्ष रख रहे हैं।

हमें आशा है कि यह संयुक्त प्रकाशन सामान्य पाठकों के लिए रोचक और प्रबुद्ध जनों के लिए विचारोत्तजक सिद्ध होगा।

डॉ. सम्पतसिंह भांडावत	चैतन्यमल ढड्ढा
अध्यक्ष	मंत्री

सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल

म. विनय सागर	देवेन्द्र राज मेहता
निदेशक	सचिव

प्राकृत भारती अकादमी

अनुक्रमणिका

भूमिका

पं. श्री कन्हैयालालजी लोढा जैन आगम एवं कर्मसिद्धान्त के पारम्परिक विद्वान् होने के साथ एक प्रतिभासम्पन्न तत्त्व-चिन्तक, अध्यात्म-साधक, नये अर्थों के अन्वेषक एवं प्रज्ञासम्पन्न पुरुष है। उनके जीवन में राग-द्वेष का निवारण करने की बात ही प्रमुख रहती हैं। धर्म को भी वे उसी दृष्टि से देखते हैं। धर्म का फल है—वीतरागता, शान्ति, मुक्ति एवं प्रेम। इस धर्म को जीवन में अपनाने के साथ वे कामना, ममता एवं अहंता के त्याग पूर्वक दुःख से मुक्त होने की प्रेरणा करते है। बचपन से आप सत्य के अन्वेषक एवं पोषक रहे हैं। अपनी जिज्ञासावृत्ति के कारण आपने गणित, भूगोल, अर्थशास्त्र, राजनीतिशास्त्र, विज्ञान आदि विविध विषयों का रुचिपूर्वक गहन अध्ययन किया है। अभी भी आप बी. बी. सी. एवं वायस ऑफ अमेरिका से ज्ञान-विज्ञान से सम्बद्ध समाचार नियमित रूप से सुनते है।

आधुनिक युग में विज्ञान के प्रति लोगों का रुझान बढ़ा है। आगम में कहे गए तथ्यों का परीक्षण भी वे विज्ञान के आधार पर करने लगे हैं। यही नहीं, युवा पीढी का आगमों के प्रति आकर्षण समाप्तप्रायः हो गया है। धर्म की अपेक्षा उनकी श्रद्धा वैज्ञानिक सुख-सुविधाओं की ओर बढने लगी है। ऐसी स्थिति में आगम को विज्ञान के प्रकाश में देखना अत्यन्त आवश्यक है। श्री लोढा सा. ने इस दिशा में प्रयास कर 'विज्ञान एवं मनोविज्ञान के परिप्रेक्ष्य में धर्म' नाम से एक पुस्तक भी लिखी, जिसकी पाण्डुलिपि पुरस्कृत हुई, किन्तु वह अप्रकाशित रूप में ही लुप्त हो गई। उसी पुस्तक के एक अंश रूप में यह पुस्तक है—जीव-अजीव तत्त्व।

इस पुस्तक में जैन आगमों मे निरूपित जीव एवं अजीव द्रव्यों के स्वरूप को विज्ञान के आलोक में प्रस्तुत किया गया है। जीवाभिगम, प्रज्ञापना, स्थानांग आदि सूत्रों में जीव एवं अजीव का विस्तृत निरूपण है। जैन दर्शन में मुक्ति प्राप्त करने के लिए सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र का आराधन अनिवार्य है और सम्यग्दर्शन आदि के लिए जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध एवं मोक्ष सहित नव तत्त्वों को जानना एवं उन पर श्रद्धान करना आवश्यक है। लेखक ने सभी नवतत्त्वों पर लेखन किया है। उनमें सबसे प्रथम जीव एवं अजीव तत्त्व पर यह पुस्तक प्रकाशित है। आगे पुण्य-पाप, आस्रव-संवर आदि तत्त्वों पर भी पुस्तक प्रकाशित करने का लक्ष्य है।

जीव एवं अजीव ये दो तत्त्व प्रमुख हैं। पुण्य-पाप आदि शेष सात (तत्त्वार्थ सूत्र के अनुसार आस्रव, संवर आदि पाँच) तत्त्व जीव एवं अजीव के संयोग एवं वियोग से ही निष्पन्न होते हैं। जीव एवं अजीव 'द्रव्य' भी हैं तथा 'तत्त्व' भी। तत्त्व भाव रूप होते हैं तथा द्रव्य सत् रूप। मुक्ति के लिए तत्त्व को समझना आवश्यक है, तथापि भौतिक युग में द्रव्यों की उपेक्षा नहीं की जा सकती, इसलिए इस पुस्तक में जीव एवं अजीव का वर्णन द्रव्य के रूप में ही अधिक हुआ है।

विज्ञान के अनुसार संसार के समस्त पदार्थों को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है—१. सजीव और २. निर्जीव। जिन पदार्थों में चेतनता, स्पन्दनशीलता, श्वसन आदि क्रियाओं के साथ आहार ग्रहण करने, बढ़ने, प्रजनन करने जैसी प्रवृत्तियां पायी जाती है वे सजीव कहे जाते हैं तथा शेष समस्त पदार्थ निर्जीव माने गए हैं। जैन आगमों में जीव का प्रमुख लक्षण ज्ञान एवं दर्शन अर्थात् जानना एवं संवेदनशील होना है, किन्तु विज्ञान के द्वारा निर्धारित अन्य लक्षण भी जीव में स्वीकार करने में जैनागमों को आपत्ति नहीं है। परन्तु ये लक्षण संसारी जीवों पर ही लागू होंगे, सिद्ध अथवा मुक्त जीवों पर नहीं।

आगम के अनुसार जीव दो प्रकार के हैं—संसारी और सिद्ध। विज्ञान के द्वारा निर्धारित लक्षण संसारी जीवों पर ही लागू होते हैं, सिद्ध जीवों पर नहीं। अभी वैज्ञानिकों को आत्म-तत्त्व अथवा शरीर से भिन्न जीव-तत्त्व का प्रतिपादन करना शेष है, क्योंकि आत्मा अरूपी एवं अपौद्गलिक होने के कारण पौद्गलिक प्रयोगों की पकड़ में नहीं आता, तथापि परामनोविज्ञान जैसी वैज्ञानिक शाखाएं आत्मा के अस्तित्व एवं पुनर्जन्म की सिद्धि के लिए प्रयत्नशील हैं।

जीव के भेदों का जैनदर्शन में विविध रूपों में निरूपण है। गति की दृष्टि से संसारी जीव चार प्रकार के हैं—नरकगति में रहने वाले, तिर्यञ्चगति में रहने वाले, मनुष्यगति मे रहने वाले और देवगति में रहने वाले। इन्द्रियों की दृष्टि से ये पाँच प्रकार के हैं—एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रिय एवं पचेन्द्रिय। स्थावर एवं त्रस के भेद से ये जीव दो प्रकार के भी हैं, किन्तु लेखक ने काया की दृष्टि से प्रतिपादित छह भेदों को प्रमुखता देकर उनका क्रमशः निरूपण किया है। वे छह भेद हैं—पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय, वनस्पतिकाय और त्रसकाय। इनमें से पृथ्वीकाय से लेकर वनस्पतिकाय तक के जीवों में एक स्पर्शनेन्द्रिय पायी जाती है तथा ये स्थावर

कहे जाते हैं। इनमें से वायु एवं तेजस् के गतिशील होने के कारण इन्हें किसी अपेक्षा से त्रस कहा गया है (तेजोवायुद्वीन्द्रियादयश्च त्रसाः—तत्त्वार्थ सूत्र) अन्यथा द्वीन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक के जीव ही त्रस कहे जाते हैं। गतिशील होने के कारण अन्य दर्शनों में इन्हें जंगम कहा गया है।

त्रसकाय के द्वीन्द्रियादि जीवों तथा वनस्पतिकाय मे जीवत्व स्वीकार करने के सम्बन्ध में विज्ञान के समक्ष अब कोई प्रश्न नहीं रहा है। भारतीय वैज्ञानिक जगदीशचन्द्र बसु ने पेड़-पौधों में जीवन सिद्ध करते हुए उनमें मनुष्य की भांति श्वसन, आहार-ग्रहण, विसर्जन आदि क्रियाओं को भी सिद्ध किया है। अभी तक पृथ्वीकाय, अप्काय (जलकाय) तेजस्काय (अग्निकाय) एवं वायुकाय में जीवत्व सिद्धि का कार्य वैज्ञानिको के लिए करणीय है। लेखक ने वैज्ञानिकों के द्वारा किए गए कार्यों का उल्लेख करते हुए पृथ्वीकाय आदि की विभिन्न विशेषताओं का वर्णन किया है। लेखक का तर्क है कि पृथ्वीकाय में जीवन है, क्योंकि पृथ्वीकाय में जन्म, मरण एवं वृद्धि होती है। अप्काय की एक बूंद मे लाखो जीवों का होना वैज्ञानिकों ने स्वीकार ही किया है। तेजस्काय में श्वसन क्रिया है, उसे ऑक्सीजन की आवश्यकता होती है इसलिए उसमें भी जीवन है तथा वायुकाय के वैक्रिय स्वरूप को देखकर उसमें जीवत्व की सिद्धि होती है।

वनस्पतिकाय में आहार, भय, मैथुन एवं परिग्रह रूप चार संज्ञाओं, क्रोध, मान, माया एवं लोभ रूप चार कषायों, कृष्णादि चार लेश्याओं की भी लेखक ने विविध वैज्ञानिक उदाहरण देकर पुष्टि की है। पेड़-पौधे कितने संवेदनशील होते हैं यह इस पुस्तक में भली भांति पुष्ट हुआ है। पेड़-पौधों में पायी जाने वाली विचित्र विशेषताएं भी रोचक बन पड़ी हैं। कुछ पेड़-पौधे सच झूठ को पहचानते हैं तथा मनुष्य की भांति सहानुभूति दिखा सकते हैं।

अजीव द्रव्य पांच प्रकार का है—धर्म, अधर्म, आकाश, काल और पुद्गल। इनमें से काल अप्रदेशी है तथा शेष चार द्रव्य अस्तिकाय रूप हैं। धर्म द्रव्य गति में सहायक निमित्त है, अधर्म द्रव्य स्थिति में सहायक निमित्त है, आकाश समस्त द्रव्यों को स्थान देता है तथा काल वर्तना लक्षण युक्त है। धर्मद्रव्य की समता ईथर से, अधर्मद्रव्य की समता गुरुत्वाकर्षण से की गई है। आकाश एवं काल विज्ञान के लिए अपरिचित नहीं है, किन्तु आकाश के आगमिक वर्णन एवं वैज्ञानिक वर्णन में अनुपम समानता है, इसका आभास इस पुस्तक से पाठकों को अवश्य होगा। जैनधर्म मे काल की सूक्ष्मतम इकाई 'समय' है जो वर्तमान आणविक घड़ियों से मापे गए सूक्ष्मतम काल से भी

छोटा है। लेखक ने काल का अत्यन्त वैज्ञानिक ढंग से वर्णन किया है।

'पुद्गल' जैनदर्शन का ऐसा पारिभाषिक शब्द है जिसके अन्तर्गत विज्ञान सम्मत समस्त Matter (पदार्थों) का समावेश हो जाता है। आगमों में उस प्रत्येक द्रव्य को पुद्गल कहा गया है जो वर्ण, गन्ध, रस एवं स्पर्श से युक्त होता है। यह एक परमाणु से लेकर एक स्कन्ध तक हो सकता है। सबमें वर्ण, गन्ध, रस एवं स्पर्श अनिवार्य रूप से पाए जाते हैं। पर्याय परिवर्तन की दृष्टि से एक द्रव्य दूसरे वर्ण, रस, गन्ध एव स्पर्श में अथवा स्वयं के वर्णादि में परिवर्तित होता रहता है। विज्ञान में द्रव्य की तीन अवस्थाएं स्वीकार की गई हैं—ठोस, द्रव और गैस। एक द्रव्य 'जल' पर्याय परिवर्तन के कारण तीनों अवस्थाओं को ग्रहण कर सकता है। बर्फ की पर्याय में वह ठोस, जल की पर्याय में द्रव तथा भाप की पर्याय में गैस अवस्था को धारण कर लेता है।

पुद्गल की शक्ति भी पुद्गल की एक पर्याय है। उसमें भी द्रव्यमान होता है। कर्म के रूप में पुद्गलों का ही आत्मा से बंध होता है। बंध में स्निग्धता एवं रूक्षता को जैनदर्शन निमित्त मानता है तो विज्ञान में धन विद्युत एवं ऋण विद्युत स्वीकार की गई है। पुद्गल में गतिशीलता, अप्रतिघातित्व, परिणामी-नित्यत्व आदि विशेषताओं का उल्लेख करने के साथ श्रीयुत लोढा सा. ने शब्द, अन्धकार, उद्योत, छाया, आतप आदि पौद्गलिक पर्यायों का भी विस्तार से वैज्ञानिक प्रतिपादन किया है।

इस प्रकार यह पुस्तक जैनदर्शन के अनुरूप जीव एवं अजीव द्रव्यों का प्रतिपादन करने के साथ विज्ञान से उनकी तुलनात्मक महत्ता भी प्रस्तुत करती है। इसमें अनेक रोचक वैज्ञानिक तथ्यों एवं प्रयोगों की भी चर्चा है, फलतः यह पाठकों का ज्ञानवर्द्धन करने के साथ चिन्तन एवं अनुसंधान की एक नई दिशा प्रदान करती है, जिससे विज्ञान एवं आगम के पारस्परिक अध्ययन का द्वार खुलता है, जो युग की मांग के अनुकूल है।

— डॉ. धर्मचन्द जैन
सहायक आचार्य, संस्कृत-विभाग
जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय, जोधपुर (राज.)

जीव-तत्त्व

विज्ञान का विवेचन

प्राचीन भारतीय साहित्य में 'विज्ञान' शब्द का अर्थ आधुनिक 'साइन्स' शब्द के अर्थ के समान 'भौतिक पदार्थों के ज्ञान' तक ही सीमित नहीं है, अपितु वहाँ यह व्यापक अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। व्याकरण की दृष्टि से 'विज्ञान' शब्द विशेष अर्थवाचक 'वि' उपसर्ग, ज्ञान अर्थवाचक 'ज्ञा' धातु व 'ल्युट्' प्रत्यय से बना है जिसका अर्थ है—विशेष ज्ञान। किसी एक तत्त्व, पदार्थ अथवा उसके किसी अंग-प्रत्यंग, शाखा-उपशाखा का ज्ञान सामान्य ज्ञान कहा जाता है और उन ज्ञानों का उपयोगिता की दृष्टि से समीचीन सामञ्जस्य स्थापित करने वाला सम्यक् ज्ञान, विशेषज्ञान, या 'विज्ञान' कहा जाता है। किसी प्रकार के ढांचे या शाखा का विशेष (Specific) ज्ञान, जिसे आज 'विज्ञान' कहा जाता है, शास्त्रीय भाषा में उसे 'नय-ज्ञान' कहा गया है। नयज्ञान एकपक्षीय या एकांगी होता है। एकांगी या एकपक्षीय ज्ञान जीवन में असंतुलन उत्पन्न करता है। जब यही नयज्ञान अन्य ज्ञानों के साथ अपना सम्यक् सम्बन्ध स्थापित कर लेता है, तो यह सम्यक् ज्ञान रूप हो जाता है। शास्त्रों में इसी सम्यक् ज्ञान को 'विज्ञान' कहा गया है।

आज 'साइन्स' (Science) शब्द का अर्थ भारतीय प्राचीन साहित्य में प्रयुक्त 'विज्ञान' शब्द के अर्थ से दूर पड़ गया है, परन्तु प्रारम्भिक अवस्था में इन दोनों शब्दों के अर्थ में व्याकरण की दृष्टि से आश्चर्य-जनक समानता है। दोनों का मूल समान है। जिस प्रकार विज्ञान शब्द 'ज्ञा' धातु से बना है, जिसका अर्थ जानना है; इसी प्रकार 'साइन्स' शब्द लैटिन धातु 'Scine' से बना है जिसका अर्थ भी जानना या पहचानना है। Scine से Scientia शब्द बना जो 'ज्ञान' अर्थ में

प्रयुक्त होता है। इसी धातु से इटैलियन 'Scienza' स्पैनिश, 'Ciencia', पुर्तगाली 'Sciencia' ऍंग्लोफ्रेंच 'Science' शब्द बने हैं, जो विज्ञान के समानार्थी हैं। १७वीं शताब्दी के मध्यकाल के पूर्वतक 'साइन्स' शब्द आधुनिक विज्ञान के अर्थ में प्रयुक्त न होकर ज्ञान के अर्थ में प्रयुक्त होता था। १७वीं शताब्दी के अन्तिम चरण में यह अपने इस अर्थ से दूर हटने लगा और धीरे-धीरे इसने भौतिकी ज्ञान का रूप धारण कर लिया।

तथाकथित यह 'विज्ञान' वस्तुतः 'नयज्ञान' है। नयज्ञान एकांगी होने से खण्डित व अधूरा ज्ञान है। ऐसा खण्डित या अधूरा ज्ञान कितना ही विशेष क्यों न हो वह जीवन के लिए कार्यकारी नहीं होता है। खण्डित ज्ञान जीवन को खण्डित करता है और खण्डित जीवन, जीवन नहीं, जीवन की विडंबना है, जीवन का भार ढोना है। जैसे खंडित व विशृंखलित पुर्जो से इंजन का सचालन नहीं होता है, पुर्जों के इंजन के अनुरूप उचित आकार-प्रकार के होने, उचित स्थान पर लगने तथा उनमें सामञ्जस्य स्थापित होने से ही इंजन में समीचीनता और संचालन शक्ति आती है; इसी प्रकार ज्ञान की विधाओं का जीवन के आवश्यक अंगों के अनुरूप पारस्परिक सामञ्जस्य ही सम्यग्ज्ञान या विज्ञान है। इसी विज्ञान में जीवन की समस्त समस्याओं का समाधान, असीम आनन्द का आविर्भाव व अपरिमित शक्तियों का प्रादुर्भाव निहित है।

तात्पर्य यह है कि भारतीय विचारकों की दृष्टि से भौतिक तत्त्वों या उनके किसी एक अंग या विषय का विशिष्ट ज्ञान 'विज्ञान' नहीं है, अपितु 'ज्ञान' की समीचीनता या सम्यक्ता विज्ञान है। ऐसे विशिष्ट ज्ञान का मात्र संग्रह करने से सुन्दर सरस और सुखद जीवन का निर्माण नहीं होता है। तारों का संग्रह करने मात्र से वीणा का निर्माण नहीं होता है। वीणा का निर्माण होता है, तारों की सम्यक्

स्थापना व सामञ्जस्य से। यदि तार उचित स्थान पर स्थित नहीं हैं तो उनसे संगीत नहीं, विसंगति ही उत्पन्न होती है और विसंगति से कोई लाभ नहीं। जैसे तारों की पारस्परिक सम्यक् संगति ही संगीत का मधुर स्वर झंकृत करती है, जो जीवन को रसमय बना देती है। उसी प्रकार ज्ञान सम्यक् रूप धारण न करे तो उससे जीवन में संगीत नहीं, विसंगति ही उत्पन्न होती है। जीवन में यही विसंगति समस्त विसंगतियों का कारण है। ज्ञान के सम्यक्त्व में ही सरस संगीत झंकृत होता है। यही संगीत समस्त असंगतियों का परिहार कर जीवन को रसमय और आनंदित बनाता है।

आज ज्ञान (भौतिक विज्ञान) का विस्तार तो बहुत बढ़ रहा है परन्तु जीवन में विकास नहीं हो रहा है। जीवन में जड़ता-पाशविकता बढ़ रही है, चिन्मयता, सात्त्विकता व दिव्यता घट रही है। ज्ञान-वृद्धि की धुन में मानव, जीवन के लक्ष्य को ही भूल गया है। आज के मानव की दृष्टि जीवन को समुन्नत बनाने वाले सम्यक्ज्ञान से हटकर ज्ञान के विशेषीकरण (Specialisation) पर अटक गई है। इस विशेषीकरण के कारण विचारों का विस्तार तो बढ़ा, परन्तु विवेक का आदर घटा है। पाण्डित्य में तो वृद्धि हुई है, परन्तु प्रज्ञा की अवज्ञा हुई है।

शास्त्र-ज्ञान की वह मूलभूमिका ही बह चली जिस पर जीवन-भवन का निर्माण होता है। जीवन की उपेक्षा करने वाले विज्ञान के जल की इसी बाढ़ ने मानव-मस्तिष्क को अपने में डुबो लिया है। परिणाम-स्वरूप मानव अपनी ही प्रजाति व जीवन के विनाश करने वाले अणु परमाणु बमों व प्रक्षेपणास्त्रों के निर्माण में जुट रहा है, जिसकी विध्वंसकारी विभीषिकाओं एवं प्रलयंकारी आशंकाओं से संसार थर-थर कांप रहा है। यदि समय रहते तथाकथित इस विज्ञान को वास्तविक विज्ञान का रूप न दिया गया तो मानव-

समाज की वही स्थिति व गति होगी, जो किसी बालक को उसके हाथ में अस्त्र देने से होती है। विश्व के विज्ञ-जन भयभीत हैं कि मानव अपने ही विज्ञान के हाथों अपना विनाश न कर बैठे।

विज्ञान का कार्य जीवन में सामंजस्य व समीचीनता लाकर जीवन का विकास करना है। जीवन का निर्माण आत्मा, मन व तन के योग से हुआ है तथा परिवार, समाज, राज्य, धन आदि के साथ इसका संयोग जनित व स्वनिर्मित सम्बन्ध है। अतः जो ज्ञान इन सबमें समीचीन सामंजस्य स्थापित करता है और समता लाता है, वही वास्तविक विज्ञान है। इसे ही जैन दर्शन में सम्यग्ज्ञान कहा है। सम्यग्ज्ञान का आधार है—भेद-विज्ञान, कारण कि जड़-चिद् ग्रंथी के भेदनरूप भेद-विज्ञान से ही आभ्यन्तरिक शक्तियों का आविर्भाव होता है। जीवन में समता, समीचीनता और लयता आती है तथा सर्व समस्याओं का समाधान होता है। सर्व समस्याओं का समाधान ही समाधि है। समाधि चित्त की शान्त स्थिति का, सच्चे आनन्द का, अर्थात् सच्चिदानन्द का ही रूप है।

तन, मन, धन आदि जीवन के सब अंगों का वास्तविक आधार आत्मा है। आत्मा के अभाव में जीवन का कोई अर्थ व मूल्य नहीं रह जाता है। शक्ति की दृष्टि से देखा जाय तो आत्मा अनन्त विलक्षण शक्तियों का आगार है, मन असीम शक्ति का भंडार है, तन की शक्ति ससीम व स्वल्प है तथा धन आदि भौतिक पदार्थों की शक्ति अत्यल्प है। जीवन में आत्मा, मन, तन व धन की उपयोगिता और महत्त्व का अनुपात भी इन शक्तियों के उपर्युक्त अनुपात के ही तुल्य है। अतः आधुनिक विज्ञान, जो वस्तुतः विज्ञान न होकर मात्र भौतिकी ज्ञान है, का महत्त्व भी जीवन की सर्वांगीण दृष्टि से अत्यल्प ही है। इसका कितना ही विकास क्यों न हो,

वह एक क्षेत्रीय व ससीम ही होगा, साथ ही वह श्रम व संपत्ति-साध्य तथा जटिलता लिए हुए होगा; जबकि मानसिक शक्तियों की उपलब्धियां असीम लाभदायक, उपयोगिता लिए, सरल व कम श्रमसाध्य होती हैं, भौतिक संपत्ति की तो वहाँ अपेक्षा ही नहीं है। उदाहरण के लिए समाचार की दूर संचरण व्यवस्था को ही लें। भौतिक विज्ञान में इसके लिए टेलीग्राम, टेलीफोन, टेलीविजन, ट्रांजिस्टर आदि यंत्र हैं। ये यंत्र जटिल, श्रम व संपत्ति साध्य तो हैं ही, साथ ही इनकी गति अपेक्षाकृत धीमी व प्रसारण सीमित है। इनकी गति एक सैकिण्ड में केवल एक लाख छियासी हजार दो सौ मील है तथा सागर-जल की अतल गहराई में इनकी पहुँच नहीं है, परन्तु इनका स्थान लेने वाली मानसिक शक्ति टेलीपैथी को ही लीजिये। इसमें समाचार संचरण के लिये न किसी यंत्र की आवश्यकता है, न किसी श्रम-संपत्ति की। गति तो इतनी असीम है कि ब्रह्माण्ड के किसी भी भाग में, फिर वह चाहे कितना ही दूर क्यों न हो, समाचार भेजने में सैकिण्ड का पचासवां भाग भी नहीं लगता है। सागर की अतल गहराइयों, गिरि की गहन गुफाओं, इस्पात की मोटी परतों आदि अगम्य स्थलों पर भी इसकी गति निर्बाध है। यह तो मानसिक शक्ति की असीमता का आधुनिक युग में प्रयुक्त होने वाला एक उदाहरण है।

मन ऐसी असंख्य शक्तियों का आगार है। इससे भी अनंत गुनी अधिक और विलक्षण शक्तियों व उपलब्धियों का धनी आत्मा है। अतः यह स्वाभाविक ही है कि जो विज्ञ पुरुष मानसिक व आध्यात्मिक शक्तियों की उपलब्धियों से परिचित है वह भौतिक शक्तियों की उपलब्धियों के लिए प्रयास न कर उनकी उपेक्षा करे। यही कारण है कि प्राचीन ऋषि-महर्षियों ने भौतिक वस्तुओं, इनकी शक्तियों एवं साधनों तथा इन सबके ज्ञान पर केवल इतना ही ध्यान दिया जितना जीवन में आवश्यक था। उन्होंने इनके विस्तारपूर्वक वर्णन

को आवश्यक नहीं समझा। अतएव उन्होंने इनका वर्णन संकेतात्मक व सूत्रात्मक रूप में किया है। वे सूत्र तथा संकेत आज के विज्ञान जगत् में फलित रूप में प्रत्यक्ष प्रमाणित हो रहे हैं। उस युग में आज जैसी प्रयोगशालाओं एवं यांत्रिक साधनों का अभाव होने पर भी अनेक रहस्यपूर्ण सूत्रों व सिद्धान्तों का प्रतिपादन करना निश्चय ही उनके प्रणेताओं के अतिबौद्धिक एवं अलौकिक ज्ञान का परिचायक है। उन महर्षियों द्वारा कथित सूत्र आधुनिक विज्ञान जगत् में आश्चर्यजनक रूपों में सत्य प्रमाणित हो रहे हैं।

जैन आगमों में जीव एवं अजीव तत्त्वों का जो विवेचन है वह आधुनिक वैज्ञानिकों के लिए अभी भी शोध का विषय बना हुआ है। आधुनिक विज्ञान के परिप्रेक्ष्य में इन जीव-अजीव तत्त्वों के विभिन्न भेदों एवं पक्षों पर इस पुस्तक में आगे के अध्यायों में विचार किया जाएगा।

आत्मा का अस्तित्व

जैन दर्शन तात्त्विक दृष्टि से विश्व का वर्गीकरण इस प्रकार करता है—

'जीवा चेव अजीवा य एस लोए वियाहिए ।'

उत्तराध्ययन अ. ३६ गाथा २

अर्थात्—लोक में जीव और अजीव ये दो ही मुख्य तत्त्व हैं । विश्व की समस्त वस्तुएं और रचनाएं इन्हीं दो तत्त्वों व इनके पारस्परिक मेल के विविध रूपों का परिणाम हैं । विज्ञान के क्षेत्र में इन दो तत्त्वों में से अजीव तत्त्व को तो प्रारंभिक काल में ही स्पष्ट स्वीकार कर लिया गया था, परन्तु जीव या आत्मा के विषय में कोई निश्चित व निर्णीत मत व्यक्त नहीं किया गया था । आज से कुछ दशाब्दी पूर्व तक विज्ञान आत्मा के अस्तित्व का विरोधी था । विज्ञान जगत् में इस मान्यता की प्रधानता थी कि जीव भौतिक तत्त्वों के गुणात्मक परिवर्तन का ही परिणाम है, अलग से कोई मौलिक तत्त्व नहीं है । परन्तु जैसे-जैसे विज्ञान का विकास होता जा रहा है, वैसे ही उत्तरोत्तर यह मान्यता शिथिल होती जा रही है और लगता है कि अब वह दिन दूर नहीं है जब वैज्ञानिक क्षेत्र में आत्मा को एक स्वतंत्र तत्त्व के रूप में असंदिग्ध स्थान मिल जायेगा । वैज्ञानिक शोधों के परिणामस्वरूप दिन प्रतिदिन आत्म-अस्तित्व की स्वीकृति के आश्चर्यजनक तथ्य सामने आ रहे हैं ।

विद्वान् सुलियन आत्म-अस्तित्व की ओर संकेत करते हुए अपने ग्रन्थ 'विज्ञान की सीमाएं' में कहते हैं कि "विज्ञान सत्ता के एक आंशिक पक्ष का ही विवेचन करता है और यह मानने का रंच भी कारण नहीं है कि प्रत्येक वस्तु जिसकी विज्ञान अवज्ञा करता है,

उस वस्तु से अल्पतर सत्य है जिसे विज्ञान स्वीकार करता है।"

प्रसिद्ध वैज्ञानिक सर जेम्स जीन्स ने अपने 'भौतिक शास्त्र और दर्शन-शास्त्र' ग्रंथ में कहा है कि—"भौतिक विज्ञान जिस विश्व को जानता है वह अधिक-से-अधिक विद्यमान विश्व का एक अंश हो सकता है।"[1]

श्री जे. बी. एस. हेल्डन का कथन है कि "सत्य तो यह है कि जगत् का मौलिक रूप जड़ (Matter), बल (Force) अथवा भौतिक पदार्थ न होकर मन और चेतना ही है।"

विज्ञानवेत्ता श्री ओलिवर लॉज (Sir Oliver Lodge) लिखते हैं कि "The time will assuredly come when these avenues into unknown region will be explored by science. The universe is a more spiritual entity then we thought the real fact is that we are in the midst of spiritual world which dominates the material." अर्थात्—एक दिन वह समय अवश्य ही आएगा जबकि विज्ञान द्वारा अज्ञात विषय का अन्वेषण होगा और हमें ज्ञात होगा कि जितना हम समझते और मानते थे, उससे भी अधिक विश्व का आध्यात्मिक अस्तित्व है। सच तो यह है कि हम ऐसे आध्यात्मिक जगत् के मध्य रह रहे हैं जो वास्तव में भौतिक जगत से अधिक महान और सशक्त है।

श्री ए. एस. एडिंगटन वैज्ञानिक का कथन है—"Some thing is unknown in doing. We do not know what it is. I regard consciousness as derivative from consciousness. The old Atheism is gone. Religion belongs to realm of spirit and mind, and can not be shaken.'[2]

---

१ भारती २१ मार्च १९६५

२ The Modern Review, July १९३६

अर्थात् कोई अज्ञात शक्ति सतत क्रियाशील है । हम नहीं जानते कि वह क्या है । मैं मानता हूँ कि चेतना ही प्रमुख आधारभूत वस्तु है । पुराने नास्तिकवाद के विचार लद गये हैं और धर्म अब चेतना तथा मस्तिष्क के क्षेत्र का विषय बन गया है । उसे अब किसी भी प्रकार हिलाया नहीं जा सकता ।

विश्व विख्यात वैज्ञानिक आइन्स्टीन लिखते हैं "I believe that intelligence or consciousness is manifested throughout all nature.[1] अर्थात् मैं विश्वास करता हूँ कि समस्त प्रकृति में चेतना काम कर रही है ।

वर्तमान वैज्ञानिकों में प्रथम श्रेणी में स्थान प्राप्त श्री हाईसनवर्ग अपने 'भौतिक विज्ञान और दर्शन' ग्रंथ में भौतिक और चेतन तत्त्वों को वास्तविक मानते हुए लिखते हैं कि—"चेतन तत्त्व को भौतिकशास्त्र, रसायनशास्त्र और विकासवाद के सिद्धान्तों पर नहीं समझाया जा सकता है,[2] वास्तविकता को समझने के लिए हमारी सामान्य धारणाओं की सूक्ष्म व्याख्याएं आवश्यक हैं ।[3] एक लेखक का कथन है—

"कुछ समय पूर्व तक वैज्ञानिक क्षेत्र में यह फैशन-सी बन गई थी कि अपने को नास्तिक (एग्नास्टिक) कहा जाय, लेकिन अब अगर कोई आदमी नास्तिकता की नासमझी पर गर्व करता है तो वह लज्जा और तिरस्कार की बात है । नास्तिकता का फैशन अब मिट चुका है ।"[4]

लब्ध-प्रतिष्ठित वैज्ञानिक डाक्टर चार्ल्स स्टाइन मेज विज्ञान-

---

१ The Modern Review July, १९३९
२ फिजिक्स एण्ड फिलोसोफी, पृ. ९५
३ वही, पृ. ८४
४ साइन्स एण्ड रिलीजन

जगत की आगामी उपलब्धियों पर अपना मत व्यक्त करते हुए लिखते हैं—"महानतम आविष्कार आत्मा के क्षेत्र में होंगे । एक दिन मानव जाति को पुनः प्रतीत हो जायेगा कि भौतिक वस्तुएं आनन्द नहीं देतीं और इनका उपयोग स्त्री-पुरुषों को सृजनशील तथा शक्तिशाली बनाने में बहुत ही कम है । तब वैज्ञानिक अपनी प्रयोगशालाओं को ईश्वर और प्रार्थना के अध्ययन की ओर उन्मुख करेंगे । जब वह दिन आयेगा तब मानव जाति एक पीढ़ी में वैज्ञानिक क्षेत्र में उतनी उन्नति कर सकेगी जितनी आज की चार पीढ़ियां भी नहीं कर पायेंगी ।"[1]

वर्तमान विज्ञान के अनुसंधान क्षेत्र में चेतन तत्त्व को स्वीकार करने वाली 'आदर्शवाद' नामक एक शाखा ने जन्म ले लिया है । आदर्शवादी वैज्ञानिक प्रत्यय (Idea), विचार (Thought), अनुभूति (Perception), ईश्वर (God), आत्मा (Soul), चैतन्य (Consciousness) आदि तत्त्वों में विश्व की वास्तविकता का प्रतिपादन करते हैं ।

आत्मा को अलग तत्त्व के रूप में स्वीकार करने के लिए यह आवश्यक है कि वह शाश्वत तत्त्व प्रमाणित हो, देह की मृत्यु के साथ आत्मा की मृत्यु न हो और देह की मृत्यु के पश्चात् भी आत्मा का अस्तित्व सिद्ध हो । यदि मृत्यु के पश्चात् पुनर्जन्म की सिद्धि हो जाती है, तो आत्मा को शाश्वत तत्त्व स्वीकार करने में किञ्चित् भी संशय नहीं रह जाता है । कुछ वर्षों पूर्व राजस्थान विश्वविद्यालय के परामनोविज्ञान विभाग के निदेशक हेमेन्द्रनाथ बनर्जी ने बिना किसी पूर्वाग्रह के वैज्ञानिक पद्धति से पुनर्जन्म की देश-विदेश की सैंकड़ों घटनाओं पर अनुसंधान किया है । बनर्जी ने अपने अनुसंधान से फलित होने वाले तथ्यों का प्रकाशन सन् १९३९ के नवभारत टाइम्स में "पुनर्जन्म का

---

१ ज्ञानोदय, अक्तूबर १९५९, पृ. ११५

सिद्धान्त वैज्ञानिक दृष्टि से विश्वसनीय है" शीर्षक से किया था। बनर्जी के लेख से पुनर्जन्म व आत्मा के शाश्वत तत्त्व होने की पुष्टि होती है।

आशय यह है कि वैज्ञानिक जगत में आत्म-अस्तित्व के विषय में प्रयोग निरन्तर जारी हैं। इनमें सफलता भी असंदिग्ध है। आत्मा के विषय में दिन-प्रतिदिन जो आश्चर्यजनक तथ्य सामने आ रहे हैं, उनके आधार पर कहा जा सकता है कि आत्म-अस्तित्व की स्वीकृति के साथ आत्मा की विलक्षण शक्तियों की उपलब्धियों से शीघ्र ही नवीन युग का प्रारम्भ होने वाला है। □

पृथ्वीकाय

जीव तत्त्व का विवेचन करते हुए जैन-आगमों में संसारस्थ जीवों के मुख्यत: दो भेद कहे गए हैं– "संसार समावन्नवगा तसे चेव थावरा चेव ।"

—स्थानाङ्ग स्थान २ उद्देशक १ सूत्र ५७

अर्थात् संसारी जीव दो प्रकार के हैं—त्रस और स्थावर। जो जीव चलते फिरते हैं उन्हें त्रस और जो जीव स्थिर रहते हैं वे स्थावर कहे जाते हैं। केंचुआ, मक्खी, मच्छर, पशु आदि त्रस जीवों को तो अन्य दर्शन भी सजीव स्वीकार करते हैं, परन्तु स्थावर जीवों को एकमात्र जैन दर्शन ही सजीव मानता आ रहा है। जैन दर्शन में स्थावर जीवों के पांच भेद कहे गए हैं—

"पंच थावरा काया पण्णत्ता तंजहा– इंदे थावरकाए (पुढवी थावरकाए), बंभे थावरकाए (आऊ थावरकाए), सिप्पे थावर काए (तेऊ थावर काए), संमती थावरकाए (वाऊ थावरकाए), पाचावच्चे थावरकाए (वणस्सइ थावरकाए)।"

—स्थानाङ्ग स्थान ५ उद्देशक १ सूत्र ३९४

अर्थात् स्थावर काय जीव के पांच भेद होते हैं—पृथ्वी स्थावर काय, जल स्थावर काय, अग्नि स्थावर काय, वायु स्थावर काय और वनस्पति स्थावर काय।

कुछ समय पूर्व जैन दर्शन की स्थावर जीवों की मान्यता को जैनेतर दार्शनिक एक मनगढंत मान्यता मानते थे। परंतु विज्ञान ने इस मान्यता को आज सत्य सिद्ध कर दिया है। यहां पहले स्थावर काय के प्रथम भेद पृथ्वीकाय पर विचार करते हैं।

पृथ्वीकाय के जीवों की अवगाहना कितनी है ? गणधर गौतम द्वारा पूछे गये इस प्रश्न का उत्तर देते हुए भगवान महावीर फरमाते हैं—

गोयमा ! जहन्नेणं अंगुलासंखेज्जतिभागं उक्कोसेण वि
अंगुलासंखेज्जइभागं
—जीवाभिगम प्रथमप्रतिपत्ति ।

हे गौतम ! पृथ्वीकाय के जीवों की अवगाहना जघन्य उत्कृष्ट अंगुल के असंख्यातवें भाग है । दूसरे शब्दों में सुई की नोक बराबर पृथ्वीकाय के भाग में असंख्य जीव होते हैं । यह बात पहले अन्य दार्शनिकों को हास्यास्पद लगती थी कारण कि उनकी दृष्टि में पृथ्वी अचला, स्पन्दनहीन, जड़ व निर्जीव रही है । परन्तु वैज्ञानिक यंत्रों के विकास ने जैन दर्शन में प्रतिपादित इस सिद्धांत को सत्य सिद्ध कर दिया है कि पृथ्वी सजीव है ।

विश्व विख्यात वैज्ञानिक जूलियस हक्सले ने अपनी लेखमाला—'पृथ्वी का पुनर्निर्माण' (Remaking the earth) में पृथ्वी से सम्बन्धित अनेक रहस्यों व तथ्यों का उद्‌घाटन किया है, वह आश्चर्यकारी है । वे पृथ्वी का वर्णन करते हुए लिखते हैं कि पेंसिल की नोक से जितनी मिट्टी उठ सकती है उसमें दो अरब से भी अधिक कीटाणु होते हैं । उनके कथनानुसार पेंसिल की नोक के अग्रभाग जितनी मिट्टी में जीवों की संख्या विश्व के समस्त मनुष्यों की संख्या से कुछ ही कम है । परन्तु इससे भी अधिक महत्त्व की बात है—अन्य सजीव प्राणियों के समान मिट्टी में भी स्वयं संचालित होने वाली प्रक्रिया । बालक के समान मिट्टी का भी जन्म, वर्द्धन व मरण होता है । विज्ञान जगत् में आज यह सामान्य सिद्धांत बन गया है ।

अनेक भौगोलिकों व भू-वैज्ञानिकों ने पर्याप्त अनुसंधान कर यह सिद्ध कर दिया है कि जिस प्रकार अन्य प्राणी उत्पन्न होते, बढ़ते व मरते हैं, उसी प्रकार पृथ्वी खंड भी उत्पन्न होते, बढ़ते व मरते हैं ।

इन वैज्ञानिकों में प्रमुख हैं श्री एच. टी. वर्सटापेन । इनका कथन है कि न्यूगिनी के केन्द्रीय भागों में पर्वत अभी अपनी बाल्यावस्था पार कर यौवनावस्था में पहुंचे ही है। इनका जन्म अधिक पुराना न होकर 'प्लियोसीन' काल के अन्तिम समय का है और 'रिश-प्लेशियम' काल के पश्चात् इनकी चोटियां ऊंची होती गई हैं। श्री सुगाते का मत है कि न्यूजीलैंड के पश्चिमी नेलशन के पर्वत 'प्लाइस्टोसीन' युग के अन्तिम चरण में विकसित हुए हैं। आज जहां हिमालय है वहां किसी युग में एक विशाल महासागर था। कालान्तर में धारा का सिरा उठने लगा और धीरे-धीरे पर्वतमाला का रूप लेने लगा। शिवालिक पहाड़ियां व इनके शिलाखंड हिमयुग के पूर्वकाल के हैं। भूगर्भवेत्ताओं का कथन है कि ये पर्वत अभी भी उठ रहे हैं व हिमालय के शिखर और भी अधिक ऊंचे होते जा रहे हैं।

श्री वेलमेन के कथनानुसार आल्पस-पर्वतमाला का पश्चिमी भाग अब भी ऊंचा उठता जा रहा है और समुद्र की सतह से उसकी ऊंचाई में वृद्धि होती जा रही है। सेलिबीस के दक्षिण-पूर्वी भागों, मोलूकास के कुछ टापुओं एवं इंडोनेशिया के द्वीप समूह की कुछ और नई भूमि भी ऊंची उठती जा रही है।

एक चीनी पत्रिका के अनुसार विश्व की सबसे ऊंची चोटी एवरेस्ट की ऊंचाई बढ़ रही है। किन्तु इस पत्रिका ने नयी ऊंचाई नहीं दी। 'चीन विक्टोरियल' ने अपने ताजा अंक में लिखा है कि भारतीय उपमहाद्वीप अब भी उत्तर की ओर बढ़ रहा है। इस पत्रिका ने एवरेस्ट की उत्तरी ढलान के कई चित्र प्रकाशित किए हैं। पत्रिका के अनुसार १९६६ के बाद एवरेस्ट के आसपास व्यापक सर्वेक्षण किए गए हैं।[1]

भारतीय सर्वेक्षण विभाग के अनुसार हिमालय में स्थित केदार

१ हिन्दुस्तान दैनिक, १८ अक्टूबर १९७४

नाथ और बदरीनाथ तीर्थ स्थानों की ऊंचाई में गत ७० वर्षों में १०६ मीटर की वृद्धि हुई है। वैज्ञानिकों का कहना है कि हिमालय पर्वत श्रृंखला १०० वर्षों में १० से. मी. की गति से ऊंची हो रही है। शिवालिक पर्वत शृंखला की वृद्धि भी इसी गति से हो रही है।[1]

श्री गौरीशंकर ओझा का कथन है कि 'खोज' से यह सिद्ध हो गया है कि जहां आज एटलांटिक महासागर है वहां किसी समय एक बड़ा महाद्वीप था। उस समय न्यूयार्क से आस्ट्रेलिया तक पैदल आ-जा सकते थे। पीकिंग से स्टाकहोम तक भी इतना कम गहरा सागर था कि सारे मार्ग को नौका द्वारा पार किया जा सकता था। एक समय वह भी था जब लंदन की आक्सफोर्ट स्ट्रीट, रीजेंट स्ट्रीट व हाइड पार्क गहरे जल में निमग्न थे।

रूस के भू-विशेषज्ञ वैज्ञानिक डोकूशेव ने अनुसंधान कर यह प्रमाणित किया है कि मानव वंश के समान ही मृत्तिका व प्रस्तर के स्तर भी जन्मते, बढ़ते व मरते चले जा रहे हैं। यही नहीं वैज्ञानिकों ने अब तक ५० वंशों की मिट्टी के दस हजार कुलों का पता भी लगाया है। यह उपलब्धि जैन दर्शन में वर्णित पृथ्वीकाय की योनियों व कुल कोटियों की संख्या का समर्थन करती है। जैन दर्शन में पृथ्वीकाय की सात लाख योनि व बारह लाख कुल कोटि कही गई है।

न्यूजर्सी (अमेरिका) के रटजर्स विश्वविद्यालय के माइक्रो बायोलाजी विज्ञान विभाग के अध्यक्ष, नोबेल-पुरस्कार-विजेता डाक्टर वाक्समन ने लगभग ६०० पृष्ठों की एक पुस्तक 'प्रिंसिपल आफ सॉयल माइक्रो-बायोलाजी' लिखी है। उसमें सिद्ध किया है कि चम्मच भर मिट्टी में लाखों माइक्रो व असंख्य बैक्टीरिया जीव होते

---

१ विज्ञानप्रगति, दिसम्बर १९७५

हैं। मिट्टी की सोंधी महक इन्हीं जीवों की देन है। उन्होंने दस हजार प्रकार के माइक्रो जीवों पर अनुसंधान कर विस्मयकारी तथ्य प्रकट किये हैं।

जिस प्रकार प्रत्येक जीव में अपने-अपने विशेष गुण धर्म होते हैं इसी प्रकार पृथ्वी कायिक जीवों में भी अपनी-अपनी विशेषता पाई जाती है। कोई मिट्टी रोगविनाशक होती है, कोई रोगवर्द्धक। सोवियत संघ में ७०० चिकित्सा मिट्टी के भंडार हैं। जर्मनी के गोयटिगेन विश्वविद्यालय में सैद्धांतिक रूप से यह निश्चय हो चुका है कि मिट्टी से कैंसर रोग का निराकरण सम्भव है।

यह सर्वविदित है कि वातावरण या संग का प्रभाव मानव-जीवन पर पड़ता है। दुष्टप्रकृति व्यक्तियों का संग दुःख का, सदाशय-प्रकृति वाले व्यक्तियों का संग सुख का, कलहप्रिय व्यक्तियों का संग कलह का कारण बनता है। इसी प्रकार पृथ्वी भी जिस प्रकृति की होती है उसके संग का प्रभाव भी वैसा ही पड़ता है। पृथ्वी के कुल या समुदाय भी क्रोध, अहंकार, युद्ध, शांति, स्नेह, दया, क्रूरता, रुक्षता, स्निग्धता आदि स्वभाव के होते हैं। उनके स्वभाव का प्रभाव मानव व मानव-समुदाय पर स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है।

वैज्ञानिक जूलियस हक्सले पृथ्वी की प्रकृति के प्रभाव पर प्रकाश डालते हुए कहते हैं कि "जरा भूमि का चमत्कार देखिये। अफ्रीका के सिंहों को आप केलिफोर्निया प्रांत या साइबेरिया भेज दीजिये। वे अपनी हिंसक वृत्ति भूल जायेंगे और गाय-बकरी की भांति पालतू बन जायेंगे।"[1]

अमेरिका के भू-वैज्ञानिक 'डा. चार्ल्स कैलाग' अमेरिकी गृहयुद्ध का कारण 'भूमि' को ही मानते हैं। उत्तर अमेरिका की भूरी मिट्टी

---

१ नवनीत, अक्टूबर, १६५५

वाली वनस्थली, जहां जाकर लाल-पीली होना आरम्भ करती है वहीं उत्तर और दक्षिण की वास्तविक सीमा है। इन दो भूमियों में सदैव संघर्ष एवं स्पर्द्धा चली है। इसका ही एक उदाहरण है कि अब्राहम लिंकन को उत्तरी भूमि के खिलाफ दक्षिण भाग से ही सैनिक मिले थे।

नीत्से ने जर्मनी की धरती को तो 'प्रचंड चंडिका' ही कहा है। इतिहास साक्षी है कि यह धरती अनेक बार युद्ध भूमि बनी है। बिस्मार्क इसी भूमि का भौगोलिक नियामक था।

भूमि के स्वभाव का प्रभाव मानव-स्वभाव पर कितने आश्चर्य-जनक रूप में पड़ता है, इस संबन्ध में एक ऐतिहासिक घटना उल्लेखनीय है। भारतीय इतिहास में प्रसिद्ध, मातृ-पितृभक्त 'श्रवणकुमार' कांवर में बैठाकर अपने माता-पिता को उनकी धार्मिक जिज्ञासा पूरी करने के लिए एक स्थान से दूसरे स्थान में तीर्थ-यात्रा करा रहा था। मार्ग में एक प्रदेश आया, जिसे 'जहाजपुर' कहते हैं। इस प्रदेश में प्रवेश करते ही मातृ-पितृ भक्त-प्रवण श्रवण के अन्तःकरण में एक विचित्र विचार उठा—मैं इन हाड़-मांस के पिंजरों को लिए स्वयं ही क्यों वन-वन खाक छानता फिरूँ? क्यों अपने जीवन को मिट्टी में मिलाऊं · आदि आदि। उसने अपने माता-पिता को आगे ले जाने से स्पष्ट इंकार कर दिया। माता-पिता विज्ञ थे, उन्होंने श्रवण के मन में एकाएक हुए इस परिवर्तन का कारण 'भूमि के स्वभाव' को ही समझा और वे उससे बोले—'हमें इस छोटे से प्रदेश (जहाजपुर) की सीमा के बाहर निकाल दो फिर हम स्वयं कहीं चले जायेंगे।' श्रवण ने अनमने मन से कांवर उठायी। आधे घंटे में प्रदेश पार हो गया। प्रदेश के पार होते ही श्रवण के मन में फिर परिवर्तन हुआ और उसने अपने पूर्वोक्त कटुवचन के लिए क्षमा मांगी।[1] अभिप्राय यह है कि पृथ्वीकाय के जीवों के स्वभाव का प्रभाव मानव पर उसी प्रकार

---

१ कल्याण, नवम्बर ६४ से संक्षिप्त

पड़ता है जिस प्रकार मानव के स्वभाव का पड़ता है।

यह तो हम सब का प्रतिदिन का अनुभव है कि अनेक भू-भाग ऐसे होते हैं जहां जाते ही भय का उद्भव होता है और अनेक भू-भागों में पैर धरते ही हृदय करुणा, स्नेह व दया के भावों से भर जाता है। लोगों की सामूहिक रूप में रुक्ष व स्नेहशील प्रकृति होने के कारणों में भूमि की प्रकृति भी एक कारण है।

तात्पर्य यह है कि विज्ञान ने आज पृथ्वीकाय के एक कण में अगणित जीवों का होना; स्वतः भूमि का उठाव होना; पर्वत शिखरों की ऊंचाई बढ़ना; नवीन पर्वतों का जन्म होना तथा पृथ्वी की प्रकृति का मानव-प्रकृति पर प्रभाव पड़ना आदि को सिद्ध कर दिया है और ये इस बात के ज्वलन्त प्रमाण हैं कि पृथ्वीकाय उसी प्रकार सजीव है जिस प्रकार अन्य प्राणी। □

अप्काय

अप्काय अर्थात् जलकाय स्थावर जीवों का दूसरा भेद है। जल को भी जैनदर्शन के अतिरिक्त अन्य कोई दर्शन सजीव नहीं मानता है। जैनदर्शन में जल के विषय में न केवल सजीवता का ही वर्णन है अपितु इन जीवो की अवगाहना, संस्थान, योनि, कुल आयु आदि का भी विस्तृत वर्णन है।

जलकाय के जीवों की अवगाहना का वर्णन करते हुए आगम में कहा है—

जहेव सुहुमपुढविकाइयाणं—जीवाभिगम। प्र. प्र. सूत्र १५

हे गौतम! पृथ्वीकाय के जीवों की अवगाहना के समान अप्काय के जीवों की *अवगाहना (शरीर की लम्बाई) भी अंगुल के असंख्या-*तवें भाग के बराबर जानना अर्थात् जलकाय के जीवों का शरीर इतना सूक्ष्म है कि जल की एक बूंद में असंख्य जीव रहते है।

जैसे अंडे में रहा हुआ प्रवाही रस, रस होते हुए भी पंचेन्द्रिय जीव है; उसी प्रकार जल भी जीवों का पिण्ड है। प्रसिद्ध वैज्ञानिक कॅप्टिन स्कवेसिवी ने यंत्र के द्वारा एक जल-कण में ३६४५० जीव गिनाये हैं।

वैज्ञानिक अनुसंधान-कर्त्ताओं का कथन है कि "वर्षा की एक बूंद करीब पाँच लाख मेघ बूंदों एवं एक मेघ बूंद करोड़ों वाष्प-परमाणुओं से मिल कर बनती हैं।"[1] अर्थात् जल की एक बूंद में

---

१ नवनीत, सितम्बर १९५५, पृ. ४३-४४

लाखों मेघ बूंद व एक मेघ-बूंद में करोडों वाष्प-कण होते हैं। वाष्प जल की ही एक पर्याय या रूपांतर है। इस दृष्टि से जल की एक बूंद में खरबों-नीलों वाष्प-कण व असंख्य जीव होते हैं।

सामान्य व्यक्ति जल का वर्ण एक-सा देखकर सब जलों को एक ही प्रकार का मानते हैं, उनमें भेद नहीं करते हैं। परन्तु आगम ऐसा नहीं मानते हैं। आगमों में जैसे प्राकृतिक रूप में पाये जाने वाले पार्थिव पदार्थ मिट्टी, लोहा, कोयला, तांबा अभ्रक आदि पृथ्वीकाय के जीवों के अनेक प्रकार कहे हैं, उसी प्रकार प्राकृतिक रूप में पाये जाने वाले जलीय पदार्थ भी अनेक प्रकार के कहे गये हैं यथा—

"ओसा हिमए, महिया, करए, हरतणुए, सुद्धोदए, सीतोदए, उसिणोदए, खारोदए, खट्टोदए, अंबिलोदए, लवणोदए, वारुणोदए, खीरोदए, घओदए, खोओदए, रसोदए, जे जावण्णे वहुप्पगारा।"

—पन्नवणा प्रथम-पद, सूत्र ६

अर्थात् ओस, हिम, धुंअर, ओले, हरिततृण जल, शुद्ध जल, शीतजल उष्णजल खाराजल, मीठाजल, लवणीयजल, वारुणजल, क्षीरजल, घृतजल, पुष्करजल रस (इक्षु) जल आदि जल के अनेक प्रकार कहे गये हैं। जल की योनियों की संख्या सात लाख करोड़ बताई गई है।

आधुनिक विज्ञान भी जल मात्र को एक समान न मान कर अनेक प्रकार का मानता है—शुद्धजल, भारीजल, लवणीय जल, गंधकीय जल आदि। अनुसंधानों के आधार पर शुद्धजल की विशेषता इस प्रकार प्रकट की गई है—"जल को सभी बाहरी तत्त्वों से मुक्त कर दिया जाय, तो उसकी मजबूती बढ़ जाती है। वस्तुतः इस प्रकार के कई परीक्षणों में वैज्ञानिकों ने पानी की धार के सहारे 'वोट' टिका दिये, फिर भी पानी का तार नहीं टूटा।"[1] एक विशेष प्रकार का

१ नवनीत, जुलाई १९५६, पृ. ५६

भारी जल होता है जो आणविक विद्युत-संयंत्रों में उपयोग में आता है। यह जल बहुमूल्य धातुओं के समान मूल्यवान होता है।

प्रत्येक प्रकार के जल की प्रत्येक योनि व कुल में भी अपनी विशेषता होती है। जल की हिम जाति को ही लें—इसके पर्वतीय हिमकुल व यांत्रिक हिमकुल इन दोनों के गुणों में अन्तर है। जल की उष्ण जाति को लें। निर्झरों के उष्ण जल, कुओं के उष्ण जल व सरिताओं के उष्ण जल में गुण व विशेषताओं की दृष्टि से भिन्नता है। किसी जाति या कुल की प्रकृति रोगशामक है तो किसी की रोग-उत्पादक व वर्धक। दरभंग जिले के डालसिंह थाना गाँव के एक कुए के जल में रोगों को शान्त करने की चमत्कारिक शक्ति बतलाते हैं। इसी हेतु वहाँ हजारों व्यक्ति प्रतिदिन पहुँचते हैं। बड़ौदा और बलसाड़ की सीमा पर 'उनाय' नाम के उष्ण जल के झरने हैं। इनसे गठिया, वातरोग, कमर का दर्द आदि दूर होते हैं। हम अपने दैनिक जीवन में देखते हैं कि साधारणतः हलका जल सुपाचक होता है जब कि भारी जल दुष्पाचक। वस्त्र की धुलाई में पड़ने वाले प्रभाव के अन्तर से भी जल की भिन्नता का पता स्पष्टतः चल जाता है। तात्पर्य यह है कि जल एक ही प्रकार का न होकर अनेक योनि व कुल वाला है।

जल-काय की अपनी अनेक विशेषताएं हैं। जिस प्रकार भूमि पर गंगा, सिंधु, ब्रह्मपुत्र आदि हजारों मील लम्बी नदियां अपने निश्चित मार्ग पर नियमित रूप से निरन्तर बहती रहती हैं उसी प्रकार सागर में भी हजारों मील लम्बाई वाली दर्जनों नदियां अपने निश्चित मार्ग पर निरन्तर बहती रहती हैं। ये सागरीय-सरिताएं दो प्रकार की होती है—उष्णजल वाली व शीतलजल वाली। उष्णजलवाली धाराओं में मुख्य है—गल्फ स्ट्रीम, क्यूरोसिको उत्तरी भू-मध्यधारा, दक्षिणी भू-मध्य धारा, ब्राजील धारा, ओयासिको धारा आदि। गल्फस्ट्रीम धारा भू-मध्य रेखा के समुद्र से आरम्भ होती है और मैक्सिको, उत्तरी अमेरिका के पूर्वी तट के निकट बहती हुई यूरोप

तक पहुँचती है। वहां इस धारा के दो हिस्से हो जाते हैं। एक हिस्सा ब्रिटिश टापुओं के पास होता हुआ नार्वे की ओर और दूसरा हिस्सा स्पेन के पास होता हुआ अफ्रीका की ओर चला जाता है। क्यूरोसिको धारा भूमध्य रेखा के सागर से उत्तर की ओर बहती हुई जापान के पूर्वी तट के पास से पूर्व की ओर मुड़ जाती है। ब्राज़ील, मेडागास्कर ओयासिको आदि उष्ण जल की सागर-सरिताएं भी हजारों मील लम्बी बहती हैं। लैबेडो केनारी, कमस्चटका आदि शीतजल की सागर सरिताएं भी हजारों मील लम्बी हैं। यद्यपि सागर-जल के मध्य इन सरिताओं का जल बहता है और इनका मार्ग भी स्थलीय सरिताओं की भाँति बहुत घुमाव-फिराव वाला होता है तथा ये विभिन्न दिशाओं में बहती हैं फिर भी इनका जल सागर में विलीन नहीं होता है और न ये अपने मार्ग से इधर-उधर ही बहती हैं। ये अपने अस्तित्व, व्यक्तित्व व विशेषताओं को नहीं छोड़ती हैं।

जिस प्रकार विकसित जीव जातियों में अपना विशेष गुणधर्म व स्वभाव होता है उसी प्रकार जलकाय के जीवों में भी अपना-अपना विशेष स्वभाव है। गंगा नदी का जल आरोग्यवर्द्धक व गोदावरी का जल कुष्ठ रोग वर्द्धक स्वभाव वाला है। सोवियत संघ में चार हजार से अधिक जल के ऐसे स्रोत हैं जो औषधि का काम देते हैं। काकेशस के एक जलस्रोत का नाम है 'एसे-तुकी' अर्थात् जीवन-जल, दूसरे स्रोत का नाम नारजान अर्थात् शक्ति जल है।

ऊपर कहा गया है कि प्रत्येक प्रकार का जल अपनी विशेषता रखता है। ये हो विशेषताएं वैज्ञानिकों की भाषा में 'रासायनिक प्रक्रियाएं' नाम से कही जाती है। विभिन्न प्रकार के जलों के अनुसंधानकर्त्ता आधुनिक वैज्ञानिकों का कथन है कि—"जल की रासायनिक प्रक्रियाएं इतनी असामान्य हैं कि आज तक कोई भी वैज्ञानिक

इनका सही उत्तर नहीं दे पाया।"[1]

जैसे पृथ्वीकाय के जीवों की प्रकृति का प्रभाव मानव-स्वभाव पर पड़ता है; उसी प्रकार जलकाय के जीवों की प्रकृति का प्रभाव भी मानव-स्वभाव पर पड़ता है। किसी कूप, वापी, सर, सरिता, सोता या निर्झर के पास निवास करने, बैठने, नहाने व पानी पीने से पड़ने वाले मानसिक प्रभाव से सभी परिचित हैं। कहावत ही बन गयी है कि "जैसा पीवे पानी वैसी होवे बानी' अर्थात् जैसा जल पीया जाता है—मनुष्य की वैसी ही बानी—वाणी या प्रकृति होने लगती है। साधारणतः हमें जल एक पिण्डरूप में दिखाई देता है परन्तु वस्तुतः वैसा है नहीं। जैसे पार्थिव पदार्थों (पृथ्वीकाय) के कण पिंड रूप में एक होकर भी निज रूप में पृथक्-पृथक् होते हैं, वैसे ही जल के कण पिण्ड रूप में एक होकर भी पृथक्-पृथक् होते हैं। ऐसे पृथक् शरीर-धारी जीव किसी पिंड में सामूहिक रूप में कैसे रहते हैं, इसको समझाते हुए आगम में कहा है—

"जह सगलसरिसवाणं पत्तेय-सरीराणं ॥

वातिलसकुलिया सेत्त' पत्तेयसरीरबायरवणस्सइकाया—

जीवाभिगम, प्रथम प्रतिपत्ति सूत्र १८

जैसे अनेक सरसव के दानों को गुड़ में मिलाकर उसका लड्डू बनावें, वह लड्डू एक पिंड रूप में रहता है। इसमें सरसव के सब दाने पृथक्-पृथक् रहते हैं वैसे ही बाह्य से एक पिंड रूप दीखने पर भी जो जीव अपना शरीर या व्यक्तित्व पृथक्-पृथक् रखते हैं, वे प्रत्येक शरीरी कहलाते हैं। अप्काय में प्रत्येक शरीरी जीवों का वर्णन करते हुए आगम में कहा है—

....परित्ता असंखेज्जा पण्णत्ता समणाउसे !

—जीवाभिगम प्र. सूत्र १६

---

१ नवनीत, जुलाई १९५९

अर्थात्-अप्‌काया से प्रत्येक शरीरी जीव असंख्यात हैं। इसका समर्थन जल के विषय में अनुसंधान करने वाली 'कैलिफोर्निया इंस्टीट्यूट आफ टेक्नालाजी' के इस मन्तव्य से होता है कि "सामान्य जल में सभी जल-कण आपस में पूरी तरह नहीं मिल पाते हैं और उनके मध्य बहुत-सी सूक्ष्म संधियां रह जाती हैं। पानी के भीतर तेज गति वाले पंखों के घूमने के फल-स्वरूप ये संधियाँ चौड़ी तथा गहरी हो जाती हैं। इन्हीं संधियों में पानी की भाप से युक्त बुलबुलों का जन्म होता है। इन बुलबुलों के उठने की प्रक्रिया के फलस्वरूप पानी के नलकों में छेद हो जाते हैं और बड़े-बड़े बांधों में लगे विशाल फाटक तक गल जाते हैं।" तात्पर्य यह है कि जलकण पिंड में एक होने पर भी अपना पृथक्-पृथक् अस्तित्व रखते हैं।

वस्तुतः वैज्ञानिकों की दृष्टि में जल उतना सामान्य पदार्थ नहीं है जितनी कि इसके प्रति साधारण जन ने धारणा बना रखी है। जल के अनुसंधानकर्त्ता वैज्ञानिकों का कथन है—"आज भी हिमकणों, जल के स्वरूप, प्यास इत्यादि के सम्बन्ध में वैज्ञानिक लोगों को बहुत कम जानकारी है। कई दशाब्दियों से निरन्तर प्रयत्न जारी रहने के बाद भी, जल के वास्तविक स्वरूप की जानकारी अभी प्राप्त नहीं हो पायी है। वास्तव में जल कोई सामान्य पदार्थ नहीं है जैसी कि लोगों की धारणा है।"[1]

आशय यह है कि विज्ञान अभी जल के गूढ़ रहस्यों को खोलने में लगा हुआ है और विश्वास किया जा सकता है कि अनुसंधानों से जैसे-जैसे जल के रहस्य प्रकट होते जायेंगे, वैसे-वैसे आगमों में वर्णित जल के विषय में शेष अन्य कथन भी विज्ञान जगत् में मान्य होते जायेंगे। □

---

१ नवनीत, जुलाई १९५९

तेजस्काय

तेजस्काय या अग्निकाय स्थावर जीवों का तीसरा भेद है। जीवाभिगम नामक आगम में अग्निकाय-जीवों का शरीर, अवगाहना, संहनन, संस्थान, संज्ञा, कषाय आदि २३ द्वारों से विस्तृत वर्णन है। पन्नवणा, उत्तराध्ययन, स्थानांग आदि आगमों में भी अग्निकाय के जीवों पर उल्लेखनीय विवेचन है।

अग्निकाय की सजीवता इसी से सिद्ध है कि अग्नि उसी प्रकार श्वासोच्छ्वास लेती है जैसे अन्य जीव लेते हैं। जिस प्रकार मनुष्य श्वास लेने में आक्सीजन (प्राणवायु) ग्रहण करता है और श्वास छोड़ने में कार्बन डाई आक्साइड (विषवायु) बाहर निकालता है, उसका हवा के अभाव में दम घुटने लगता है व जीवनदीप बुझ जाता है; उसी प्रकार अग्नि भी श्वास लेने में आक्सीजन (प्राणवायु) ग्रहण करती है और श्वास छोड़ने में कार्बन डाइआक्साइड बाहर निकालती है अर्थात् अग्नि हवा में हो जीवित रहती व जलती है। किसी बरतन से ढक देने व अन्य किसी प्रकार से हवा मिलना बन्द हो जाने पर आग तत्काल बुझ जाती है। पुराने बंद कुए में अथवा उस भूमिगृह में जिसे कई वर्षों से न खोला हो, जलता हुआ दीपक रख दिया जाय तो तुरन्त बुझ जाता है। इसका कारण भी दीपक की लौ की अग्नि को जीवित रहने के लिए जिस प्राणवायु की आवश्यकता होती है उसका वहां अभाव होता है।

जिस प्रकार जुगनुओं (आगियाओं), कुछ प्रकार की मछलियों व अन्य प्राणियों के शरीर में प्रकाश होता है; उसी प्रकार अग्निकाय के जीवों के शरीर में भी प्रकाश होता है।

लोगों की सामान्य धारणा है कि उष्णता में किसी प्राणी का जीवित रहना संभव नहीं है। परन्तु यह धारणा धारणामात्र ही है, तथ्य नहीं। तथ्य तो यह है कि किसी प्राणी का जीवित रहना उसकी प्रकृति के अनुकूल वातावरण पर निर्भर करता है। उदाहरणार्थ, उष्ण कटिबंध के निवासी दक्षिण भारतीय व्यक्ति को टुंड्रा के बर्फीले स्थान पर रखा जाय तो वह जीवित नहीं रह सकता जबकि वहाँ के निवासी एस्किमो अपना सम्पूर्ण जीवन बर्फ से बने घरों में सकुशल व्यतीत करते हैं। दक्षिणी भारतीयों को जितनी असह्य शीत प्रतीत होती है उसकी शतांश शीत भी एस्किमो लोगों को प्रतीत नहीं होती है।

वस्तुतः उष्णता-शीतलता की सहनशीलता प्राणी की प्रकृति पर निर्भर करती है। तीन बीकर लिए जायं। एक में ठंडा, दूसरे में गुनगुना और तीसरे में गर्म जल भरा जाय। फिर उष्णता (तापमान) जानने के लिए उन्हें किसी हाथ से स्पर्श किया जाय तो सही अनुभूति होती है। परन्तु यदि दाएं हाथ को गर्म जल में तथा बाएं हाथ को ठण्डे जल में डुबो लिया जाय और फिर दोनों हाथ एक साथ गुनगुने जल में डुबोये जांय तो दाएं हाथ को वह जल ठण्डा तथा बाएं हाथ को गर्म अनुभव होगा। एक ही समय, एक ही व्यक्ति को, एक ही जल के दो प्रकार के तापमान अनुभव होना यह सिद्ध करता है कि उष्णता-शीतलता की अनुभूति प्राणी के शरीर की प्रकृति से सम्बन्ध रखती है। अन्य उदाहरण लें—कोई वस्तु साधारण व्यक्ति को जितनी उष्ण प्रतीत होती है उतनी उष्ण ज्वर-ग्रस्त व्यक्ति को प्रतीत नहीं होती है। ज्वर-ग्रस्त व्यक्ति अपने १०४° या १०५° डिग्री गर्म पेट पर हाथ रखता है तो उसे वह गर्म मालूम नहीं होता है। अभिप्राय यह है कि उष्णता-शीतलता की अनुभूति व अनुकूलता-प्रतिकूलता प्राणी के शरीर की प्रकृति पर निर्भर करती है। अग्निकाय के जीवों के शरीर की प्रकृति अत्युष्ण है अतः अति उष्णता में

वे जीवित रह सकें, इसमें आश्चर्य जैसी कोई बात नहीं है। फिनिक्स पक्षी अग्नि में गिरकर नवजीवन प्राप्त करता देखा गया है। जैसे मनुष्य शरीर लगभग ६८° डिग्री गर्म रहने की अवस्था में भी जीवित रहता है और शरीर की गर्मी ४०° से कम हो जाने पर मर जाता है व उसका शरीर ठण्डा पड़ जाता है। इसी प्रकार अग्निकाय के जीव भी एक निश्चित गर्मी के तापमान में जीवित रहते हैं। उससे कम गर्मी होने पर मर जाते हैं और उनका शरीर ठण्डा पड़ जाता है।

जिस प्रकार त्रस प्राणी चलते हैं उसी प्रकार अग्नि भी चलती है। इस दृष्टि से आगमों में इसे त्रसकाय भी कहा है। यथा—

> तेऊ वाऊ य बोधव्वा, उराला य तसा तहा।
> इच्चेए तसा तिविहा, तेसिं भेए सुणेह मे ॥
>
> उत्तरा० अध्य० ३६, गाथा १०७

अर्थात् अग्निकाय, वायुकाय और प्रधान त्रसकाय इस तरह तीन प्रकार के त्रसकाय हैं। अग्निकाय की चलने की यह क्रिया जब दावानल (वन में लगी आग) के रूप में प्रकट होती है तो सैकड़ों मील बढ़ती ही चली जाती है परन्तु यह क्रिया जब बड़वानल (समुद्र में लगी आग) के रूप में प्रकट होती है तब तो भयंकर रूप धारण कर लेती है और हजारों मील की परिधि में फैल जाती है। ऐसी समुद्री आग वर्तमान काल में भी अनेक बार देखी गई है।

आग साधारणतः एक ही प्रकार की समझी जाती है। परन्तु वस्तुतः यह अनेक प्रकार, जाति व कुल वाली होती है। अनेक आगमों में आग के प्रकारों का वर्णन करते हुए कहा गया है—

इंगाले जाला, मुम्मुरे, अच्ची, अलाए, सुद्धागणी, उक्का, विज्जू,

असणी, णिग्घाए, संघरिससमुट्ठिए, सूरकंतमणिणिस्सिए जेयावन्ने तहप्पगारा ।। पन्नवणा, प्रथम पद, सूत्र ११

अर्थात् अंगार, ज्वाला मुर्मुर अर्चि अरणि, शुद्धाग्नि, उल्का, विद्युत, आकाश-अग्नि, वैक्रिय-अग्नि, संघर्ष-अग्नि, सूर्य-ताप से मणि व दर्पण में उत्पन्न होने वाली अग्नि आदि अनेक प्रकार की अग्नि होती है । आगमों में आग की सात लाख योनियां व सात लाख कुल कोटि कही गई हैं । इसका समर्थन आधुनिक विज्ञान से होता है । वैज्ञानिक अग्नि के अगणित प्रकार स्वीकार करते हैं और इनका वर्गीकरण चार मुख्य भागों में किया जाता है— (१) कागज और लकड़ी आदि में लगने वाली आग, (२) आग्नेय तरल पदार्थों और गैस की आग, (३) विद्युत् तारों में लगने वाली आग और (४) ज्वलनशील धातु—ताँबा, सोडियम और मैगनेशियम में लगने वाली आग ।

अग्नि के प्रकारों की भिन्नता इससे भी स्पष्ट प्रकट होती है कि अग्नि को प्रज्वलित करने वाले कारण अनेक हैं यथा—मौलिक विभिन्न रासायनिक तत्त्वों का मिलना, लकड़ी का पायरोलीसिस, पानी क्रिया, रेडियेशन हीट-ट्रांसफर, पवन प्रसंग आदि । आग के प्रकारों की भिन्नता के कारण ही, प्रत्येक प्रकार की आग बुझाने के लिए उपाय भी भिन्न-भिन्न काम में लिए जाते हैं । यदि एक आग पर आग बुझाने के दूसरे उपाय का व्यवहार किया जाय तो आग बुझाने के बजाय और भी अधिक प्रज्वलित हो जाती है । इसलिए आग बुझाने वाले दल के व्यक्तियों को आग के प्रकार का ज्ञान व किस प्रकार की आग को किस प्रकार की साधन-सामग्री से बुझाया जाय, इसका प्रशिक्षण दिया जाता है । वैसे सामान्यतः आग पानी से बुझाई जाती है, परन्तु यदि बिजली से लगी आग को पानी से बुझाने का प्रयत्न किया जाय तो इससे बुझाने वालों को भारी धक्का लगता है, कारण कि पानी बिजली का सुचालक (कंडक्टर) होता है। पेट्रोलियम आदि ज्वलनशील तरल पदार्थों पर पानी डाला जाता है

तो आग बुझने के बजाय ज्यादा फैल जाती है। यही कारण है कि इस प्रकार की आग पानी डाल कर नहीं, रेत आदि अन्य पदार्थ डालकर बुझाई जाती है। चूने पर पानी पड़ने से उसका भभक उठना व उससे उसके वहन करने वाले ट्रक के जल जाने की घटनाएँ तो सुनते ही रहते हैं परन्तु लोहे की छड़ों के संसर्ग से वर्फ में भी आग लगती देखी गई है। वैज्ञानिकों ने आग के विभिन्न प्रकारों को बुझाने के लिए विभिन्न रासायनिक तत्त्वों की खोज की है। ज्वलनशील तरल पदार्थों की आग बुझाने के लिए 'पोटेशियम बार कार्वोनेट' या 'पर्पिल के' पाउडर का उपयोग किया जाता है। 'मोनो अमोनियम फासफेट' भी आग आगे बढने से रोकने की विशेष क्षमता रखता है।

आशय यह है कि अग्निकाय सजीव है व अनेक प्रकार की योनियों व कुल वाली है। उन योनियों की अपनी-अपनी विशेषताएं हैं। □

वायुकाय

वायुकाय स्थावर जीवों का चौथा भेद है । जीवाभिगम, पन्न-वणा, ठाणांग आदि आगमों में इन जीवों का शरीर, अवगाहना, संस्थान, आयु आदि अनेक द्वारों से विस्तृत वर्णन है ।

वायुकाय के जीवों की अवगाहना (शरीर की लम्बाई) के विषय में जीवाभिगम, प्रथम प्रतिपत्ति, सूत्र १८ में कहा है कि पृथ्वीकाय के जीवों के समान ही वायुकाय के जीवों की अवगाहना जघन्य-उत्कृष्ट अंगुल के असंख्यातवें भाग है; अर्थात् एक घन अंगुल (लगभग एक घन सेन्टीमीटर) वायु में असंख्य जीव हैं । वर्तमान वैज्ञानिकों का कथन है कि हवा में 'थेकसस' नामक जीव हैं और ये जीव इतने सूक्ष्म हैं कि सूई के अग्रभाग जितने स्थान में इनकी संख्या एक लाख से भी अधिक होती है ।

जैनागमों में वायुकाय के शरीरों की संख्या का वर्णन करते हुए कहा है—

'तेसि णं भंते । जीवाणं कति सरीरगा पन्नत्ता ?'

गोयमा ! चत्तारि सरीरगा पन्नत्ता तंजहा-उरालिते, विउव्वेते, तेयसे, कम्मए ।—जीवाभिगम, प्रथम प्रतिपत्ति, सूत्र २०

अर्थात् श्रीगौतम गणधर, भगवान श्री महावीर से पूछते हैं कि हे भगवन् ! वायुकाय के कितने शरीर होते हैं ? उत्तर में भगवान् फरमाते हैं कि चार शरीर होते हैं, यथा—औदारिक शरीर, वैक्रिय शरीर, तैजस शरीर और कार्मण शरीर ।

यहाँ पर यह विशेष ज्ञातव्य है कि स्थावरकाय जीवों के पांच

भेदों में से केवल वायुकाय के जीवों के ही वैक्रिय शरीर कहा गया है। वैक्रिय शरीर में यह विशेषता होती है कि उसके आकार में परिवर्तन किया जा सकता है—उसका संकोच-विस्तार किया जा सकता है। वायुकाय के जीवों के शरीर की इस विशेषता को आज की वैज्ञानिक उपलब्धियों में प्रत्यक्ष देखा जा सकता है। साइकिल या मोटर के ट्यूब में भरी वायु गर्मी के संयोग से अपने शरीर का विस्तार करती है और वह विस्तार जब इतना बढ़ जाता है कि ट्यूब में नहीं समा पाता है तो ट्यूब फट जाता है। ग्रीष्म ऋतु में धूप में पड़ी साइकिलों के ट्यूब स्वतः फट जाने का भी यही कारण है। लोहे के खाली ढोल, जिनके मुँह बन्द होने से हवा बाहर नहीं निकल सकती, उनमें धूप की गर्मी से फैली हुई हवा के दबाव से मोचे निकलने लगते हैं, जिससे पटाखे छूटने जैसी आवाजें होने लगती हैं। इसका कारण भी वायु की विस्तारीकरण रूप वैक्रिय प्रक्रिया ही है।

वैक्रिय-प्रक्रिया स्वरूप वायुकाय के जीवों के शरीर का विस्तार होता है। यही विस्तार जब अत्यधिक बढ़ जाता है तो चक्रवात या झंझावात का रूप ले लेता है। झंझावात या तूफान की शक्ति, उसका विस्तार व रूप कितना अद्भुत होता है, इसका अनुमान निम्नांकित उदाहरण से लगाया जा सकता है :

"एक मध्यम प्रकार का साइक्लोन, केवल एक दिन में दबाव के कारण इतनी शक्ति प्रदर्शित करता है जितनी बीस मेगाटन के ४०० हाइड्रोजन बमों के विस्फोट से संयुक्त रूप से होती है। इन तूफानों की गति २५० किलोमीटर प्रति घण्टे तक हो सकती है। तूफान का गोल घेरा एक बहुत बड़े चक्के के समान घूमता है। उसका घेरा १५० से १५०० किलोमीटर तक हो सकता है। वैसे इन तूफानों की जिन्दगी भी आदमी की जिन्दगी के समान अनिश्चित होती है, कभी ये एक दिन में ही 'मर' जाते हैं तो कभी इनकी 'जिन्दगी' महीनों बनी रहती है। सबसे विचित्र बात इन विस्तृत तूफानों के बिल्कुल

बीच में स्थित 'आँख' के कारनामों से सम्बन्धित है। यह एक उल्लेखनीय क्षेत्र है, जो ५ से ५५ कि. मीटर में फैला शांत क्षेत्र होता है। इसके चारों ओर आंधियों के खतरनाक धक्के और बादलों की दीवारें, खम्भे और वाल्कनियाँ तेजी से चक्कर खाती हैं।"

वायु का यह वैक्रिय-चक्रवातीय-रूप बड़ा भयंकर व विध्वंसकारी होता है। सन् १७३६ में ऐसे चक्रवात से तीन लाख व्यक्ति मारे गये थे। सन् १८३२ में दक्षिण के काकीनाडा जिले के 'करिगा' गाँव के तीस हजार निवासी अकाल ही काल के गाल में समा गये थे। मद्रास में ३ और १० नवम्बर सन् ६५ को आये झंझावात ने बहुत उत्पात मचाया था।

वायुकाय के जीवों के प्रकार बतलाते हुए आगम में कहा है—

वायर वाउकाइया अणेगविहा पण्णत्ता तंजहा-पाईणवाए, पडीणवाए, दाहिणवाए, उदीणवाए, उड्ढवाए, अहोवाए, तिरिअवाए, विदिसिवाए, वाउब्भामे, वाउक्कलिया वायमंडलिया, उक्कलिआवाए, मंडलिआवाए, गुंजावाए, झंझावाए, संवट्टगवाए, घणवाए, तणुवाए, सुद्धवाए, जे आवण्णे तहप्पगारा ॥ प्रज्ञापना १.२६

अर्थात् वादर (स्थूल) वायुकाय के अनेक भेद कहे हैं। पूर्वीवात, पश्चिमीवात (पछुआ), दक्षिणवात, उत्तरवात, ऊर्ध्ववात अधोवात, तिर्यग्वात, विदिशिवात, वायुभ्रम उत्कलवात, समुद्रीवात, चक्रवात, मंडलीयवात, गर्जनवात, झंझावात, संवर्तवात, घनवात, शुद्धवात आदि वायु के अनेक प्रकार हैं। वायुकाय की सात लाख योनियां व सात लाख कुल कोटियां कही गयी हैं।

आधुनिक वायु-विशेषज्ञ वैज्ञानिक भी वायु के इसी प्रकार के अनेक भेद करते हैं यथाः—पूर्वी हवा, पछुआ हवा, उत्तरी हवा, दक्षिणी हवा, समुद्री हवा, गर्जने वाला चालीसा, चक्रवात, झंझावात आदि। वायु के प्रकारों का वर्गीकरण करते हुए वायु के दो मुख्य भेद किये हैं। जैसे जल की धाराएं दो प्रकार की होती हैं—

सामयिक व नियतवाही। सामयिक धाराएं वर्षा आदि इधर-उधर बह लेती हैं, उनका कोई निश्चित व नियत मार्ग नहीं होता है। नियतवाही धाराएँ नदियों के रूप में महाद्वीपों व महासागर में निश्चित या नियत मार्ग पर सतत बहती रहती हैं। इसी प्रकार वायु की धाराएं भी दो प्रकार की होती हैं : सामयिक व नियतवाही।

सामयिक हवाओं में मुख्य हैं—समुद्री हवा, स्थलीय हवा, मानसूनी हवा, चक्रवात, झंझावात आदि। नियतवाही हवाओं में मुख्य हैं—व्यापारिक हवाएं, पछुआ हवाएं आदि। व्यापारिक हवाएं (Trade Winds) भूमध्यरेखा के उत्तर-दक्षिण के लगभग २५° अक्षांशों पर मध्य विषुवत रेखा की ओर मुंह किये कुछ पश्चिम की ओर घूमती हुई बहती है। ये हवाएं इतनी निश्चित दिशा व नियत मार्ग पर बहती हैं कि प्राचीन काल में अनेक जलयान इन्हीं के सहारे व्यापारिक माल एक स्थान से दूसरे स्थान तक पहुंचाते थे। इसी कारण इन हवाओं का नामकरण व्यापारिक हवाएँ हो गया है। पछुआ हवाएँ ३° से ७०° अक्षांश के मध्य पूर्व की ओर मुड़ती हुई ध्रुवों की ओर मुंह किये बहती हैं। इन्हीं में से ४० और ५० अक्षांश के बीच हवाएँ बहुत गरजती हुई बहती हैं अतः इन्हें 'गरजने वाला चालीसा' कहा जाता हैं। ध्रुवीय हवाएँ ध्रुवों में बहती हैं।

जिस प्रकार पृथ्वी व जल की प्रकृति का प्रभाव मानव व वनस्पति पर पड़ता है; उसी प्रकार पवन की प्रकृति का प्रभाव भी मानव व वनस्पति पर पड़ता है। पूर्वी हवाएँ चलने पर अनेक मनुष्यों के शरीर पर फोड़े उठने लगते हैं; कमर में दर्द होने लगता है, वनस्पतियां रुग्ण हो जाती हैं, उनके पत्ते, फल-फूल गिरने लगते हैं।

अभिप्राय यह है कि वायु सजीव है। वैक्रिय शरीर रखती है। अनेक योनियों व कुल वाली है और इसकी प्रकृति का प्रभाव मानव प्रकृति पर भी पड़ता है। □

वनस्पति में संवेदनशीलता

यह सर्वविदित है कि संवेदनशीलता जीव में ही होती है, अजीव में नहीं। अतः जिसमें संवेदनशीलता है, वह जीव है। इस दृष्टि से पौधे भी जीव हैं, क्योंकि पौधों में भी असाधारण संवेदनशीलता होती है। यह तथ्य वैज्ञानिक प्रयोगों से सिद्ध हो चुका है। न्यूयार्क के प्रसिद्ध वैज्ञानिक क्लयू-वेक्स्टर ने सन् १९६६ में ड्रकेना मेसिजियाना के पौधे की शाखा को पोलीग्राफ लाईडिटेक्टर के संवेदनशील तार से जोड़ दिया। जैसे ही पौधे की जड़ों में जल डाला गया, संवेदन मापक गेल्वेनोमीटर में गति उत्पन्न हो गई। यह गति पौधे को हुई सुखद अनुभूति को व्यक्त कर रही थी। दूसरे प्रयोग में उसने पौधे को जलाने की बात सोची, उसने देखा कि गेल्वेनोमीटर की सुई बहुत तेजी के साथ गति कर रही थी, जो भय की द्योतक थी। यह तब घटित हुआ जब पौधे को जलाने की बात ही मन में उठी थी, तीली भी नहीं जलाई थी। इससे यह बात सामने आ गई कि पौधा भी मन की बात को भी समझ लेता है। फिर कुछ समय पश्चात् पौधे को डराने के लिए तीली जलाकर वह इसकी ओर बढ़ा, परन्तु मन में जलाने का इरादा नहीं था। तब गेल्वेनोमीटर की सुई को देखा तो उसमें कोई गति नहीं थी। जो पौधा पहले भय से कांप रहा था अब शान्त था। इससे यह तथ्य सामने आ गया कि पौधे में मन की बात को समझने की गहरी क्षमता होती है।

सच-झूठ पहचानना

विज्ञानी वेक्स्टर का उत्साह बढ़ा और उसने पौधों की संवेदनशीलता से संबंधित नये-नये प्रयोग करने प्रारंभ किये। उसने अपने एक प्रयोग में पोलीग्राफ को पौधे से जोड़कर उसका संबंध एक

व्यक्ति से कर दिया । फिर उस व्यक्ति से उसके निजी जीवन से संबंधित प्रश्न पूछना प्रारंभ कर दिया । जब वह व्यक्ति प्रश्न का उत्तर सही देता, सत्य बोलता तो 'गेल्वेनोमीटर' की सुई में कोई गति नहीं होती और जब वह व्यक्ति उत्तर झूठा (गलत) देता तो गेल्वेनोमीटर की सुई में तुरन्त गति होने लगती । इससे यह सिद्ध हो गया कि पौधा किसी भी व्यक्ति के सच-झूठ बोलने को भी भांप लेता है ।

सहानुभूति दिखाना

एक दिन बेक्स्टर की उंगली ब्लेड से कट गयी । जैसे ही बेक्स्टर को पीड़ा हुई, ठीक उसी समय कमरे में रखे पौधे को दुःख हुआ, जिससे गेल्वेनोमीटर की सुई गतिशील हो गई । इससे यह प्रगट हो गया कि पौधा अपने रक्षक के साथ कितनी गहरी सहानुभूति रखता है ।

एक दिन बेक्स्टर ने एक वट वृक्ष के साथ पोलीग्राफ जोड़ दिया । वट वृक्ष के सामने माली निकला तब उसने कोई प्रतिक्रिया नहीं की और जैसे ही लकड़हारा सामने आया, वृक्ष भय से कांप उठा, पोलीग्राफ यंत्र पर उसका ग्राफ बन गया ।

दयार्द्र होना

एक बार बेक्स्टर आमलेट बनाने के लिए अण्डे फाड़ रहा था । उसने देखा कि पोलीग्राफ यंत्र पौधे से उत्पन्न हुई गहरी संवेदनाओं को प्रकट कर रहा था । इसी प्रकार पानी में उबलते अंडों के प्रति भी पौधे ने अपना शोक व्यक्त किया । इससे दोनों बातें सामने आ गई कि पौधा भी सजीव है और अण्डा भी सजीव है ।

हत्यारों को पहचानना

एक प्रयोग में बेक्स्टर ने दो पौधे रखे । जिनको पोलीग्राफ से

जोड़ दिया। फिर उसने ६ व्यक्तियों को बुलाया और ६ पर्चियां हेट में डाली। प्रत्येक व्यक्ति को एक एक पर्ची उठाने को कहा। उनमें से एक पर्ची में लिखा था कि "कमरे में रखे दो पौधों में से किसी एक को चुपचाप पूर्णतः नष्ट कर दो।" जिस व्यक्ति के पास वह पर्ची गई उस व्यक्ति ने अवसर पाकर अकेले में एक पौधे की हत्या कर दी। इस हत्या का साक्षी दूसरे पौधे के अतिरिक्त अन्य कोई नहीं था। तीन दिन पश्चात् उस बचे रहे पौधे के सामने से उन ६ ही व्यक्तियों को निकाला गया तो जैसे ही वह हत्यारा व्यक्ति पौधे के सामने आया, गेल्वेमोमीटर की सुई तीव्रता से गति करने लगी। जो इस बात की द्योतक थी कि पौधे ने उस हत्यारे को पहचान लिया है और अपनी हत्या की आशंका से कांपने लगा है।

प्रो. इवानेइसीदोरो विचगुनार ने अपने प्रयोगों से सिद्ध किया कि पौधों में एक विशेष प्रकार का नाड़ी संस्थान होता है, जो संवेदना के संदेशों का आदान-प्रदान करता है।

रूसी वैज्ञानिक अब्रामपयोदोरोविव इयोफ ने एक फलीदार पौधे को यान्त्रिक मस्तिष्क के साथ जोड़ दिया। उस पौधे पर प्रकाश डाला जाता या पानी दिया जाता, तो पौधा प्रकाश व पानी की कब और कितनी आवश्यकता है, यह बता देता। सन् 1972 में रूस के मनोवैज्ञानिक 'पशुकिन' ने एक अन्य प्रयोग किया। उसने तान्या नामवाली युवती को सम्मोहित किया। फिर उससे प्रशंसा व खेद पैदा करने वाले प्रश्न किए। जिस प्रश्न से तान्या को खिन्नता होती उसे उसके पास रखे पौधे में लगा पोलीग्राफ यन्त्र तुरन्त बता देता। इससे यह निष्कर्ष निकला कि पौधों और मनुष्यों के नाड़ी संस्थानों में गहरा सम्बन्ध है। पौधा मनुष्य के मन में होने वाली सूक्ष्म प्रतिक्रिया को भी पकड़ लेता है।

उपर्युक्त प्रयोगों से यह तो सिद्ध हो ही गया कि पौधे संवेदन-

शील हैं अर्थात् सजीव हैं। साथ ही यह भी सिद्ध हो गया कि पौधों की यह संवेदनशीलता कई क्षेत्रों में मनुष्य से भी बढ़कर है। सद्-असद्, भले-बुरे के साधारण से व्यवहार से भी उन्हें मनुष्य से कितना ही गुना अधिक हर्ष-विषाद और सुख-दुःख होता है।

एक दिन वेवस्टर दही के साथ मुरब्बा खा रहा था, तभी उसने देखा कि पास में लगा पौधा गेल्वेनीमीटर पर अपनी खिन्नता प्रकट कर रहा है। खोज करने पर पता चला कि मुरब्बे में मिला रसायन दही की जीवित कोशिकाओं (सूक्ष्म बैक्टिरिया जीवों) को मार रहा था। उसी के कारण पौधे को दुःख हो रहा था। इससे यह प्रमाणित हो गया कि आंख से नहीं दिखाई देने वाले अति सूक्ष्म जीवों में भी संवेदनशीलता है अर्थात् वे सजीव हैं और उनके मरने का प्रभाव पौधों की संवेदनशीलता पर भी पड़ता है।

भारतीय वैज्ञानिक प्रो. टी.एन. सिंह ने पौधों पर संगीत के प्रयोग किए। पौधों को प्रतिदिन 25 मिनट वीणा की मधुर ध्वनि सुनाई। जिससे पौधों में शीघ्र फूल व फल आए तथा 20 प्रतिशत की वृद्धि हुई। एक प्रयोग 'भरत नाट्यम' का बिना घुंघरू बांधे ही किया जिसके परिणामस्वरूप मूंगफली और तम्बाकू के पौधे तेजी से बढ़े और उनमें दो सप्ताह पहले ही फूल आ गये।

आधुनिक वनस्पति विज्ञान के जन्मदाता कार्लवान लिनिअस का कहना है कि पौधे बोलने व कुछ सीमा तक गति करने को छोड़कर मानव से किसी भी बात में कम नहीं होते।

अतः हमारा कर्त्तव्य है कि हम जिस प्रकार मनुष्य, पशु, कीट-पतंग आदि जीवों की रक्षा करते हैं, उसी प्रकार वनस्पति के जीवों की भी यथा संभव रक्षा करें।

वनस्पति की उपर्युक्त संवेदनशीलता तो वैज्ञानिक यन्त्रों से सिद्ध

ऊपर वनस्पति विषयक जिन सूत्रों को विज्ञान सम्मत सिद्ध किया गया है उनमें से एक भी सूत्र विश्व में अन्य किसी भी दर्शन ग्रंथ में नहीं मिलता है तथा ये सूत्र विज्ञान के जन्म के पूर्व असंभव समझे जाते थे। इन सूत्रों की रचना जैन आगमकारों ने भौतिक विज्ञान के जन्म से हजारों वर्ष पूर्व की थी। अतः यह कहा जाय तो अत्युक्ति या अतिशयोक्ति नहीं होगी कि वनस्पति विज्ञान के अनेक सूत्रों के मूलप्रणेता जैन आगमकार ही थे।

साधारण जन वनस्पति के सजीवता में इसलिए सन्देह करते हैं कि वह चल-फिर व बोल नहीं सकती है। अतः उनके सन्देह का निवारण करने के लिए वनस्पति की सजीवता पर वैज्ञानिक दृष्टि से विचार किया जाता है।

सजीवता

विज्ञानजगत् में वनस्पति को सजीव सिद्ध करने वाले वैज्ञानिकों में सर्वप्रथम नाम श्री जगदीशचन्द्र वसु का आता है। उन्होंने सन् १९२० ई. में वनस्पति में चेतना अभिव्यक्त करने वाले ऐसे यंत्रों की रचना की जो पौधों की गति-विधि को एक करोड़ गुणे बड़े रूप में दिखाते थे। साथ ही इनसे समय का बोध भी एक सेकेण्ड के सहस्रवें भाग तक होता था। ये यंत्र स्वयंलेखी थे। इनसे पौधों की गतिविधि की क्रिया, प्रतिक्रिया, प्रक्रिया, स्वतः अंकित होती थी। इन यंत्रों से उन्होंने स्पष्ट रूप से यह सिद्ध कर दिखाया कि वनस्पतियों और प्राणियों के तंतुओं पर नींद, ताप, वायु, आहार आदि का प्रभाव बहुत कुछ एक तरह का ही पड़ता है।[1]

एक बार 'वसु' जब पेरिस में वनस्पति को सचेतन सिद्ध करने

---

१ नवनीत फरवरी १९५७ पृ. ३५

वाले प्रयोग दिखा रहे थे, उस समय उन्होंने पौधे पर 'पोटेशियम साइनाइड' विष का प्रयोग किया। यह विष इतना तीव्र होता है कि इसकी तिल भर जितनी-सी मात्रा मुँह में रखने से मनुष्य की तत्क्षण मृत्यु हो जाती है। परन्तु वहाँ उस विष के प्रयोग से पौधा मुरझाने के स्थान पर प्रसन्न हो गया। यह बात यंत्रों ने उपस्थित दर्शकों के समक्ष प्रत्यक्ष कर दी। बसु विचार में पड़ गये। परन्तु बसु को अपने सिद्धान्त की सच्चाई पर अडिग विश्वास था। अतः अनुमान से जान लिया कि यह विष न होकर कोई अन्य स्वादिष्ट भोज्य पदार्थ ही हो सकता है। अतः आपने तथाकथित उस अत्यन्त घातक विष को सबके समक्ष खा लिया और बतला दिया कि दवाखाने से आया हुआ यह विष विष नहीं चीनी है। दवाखाने से यह विष देने वाला व्यक्ति भी वहाँ दर्शकों में उपस्थित था। उसने उक्त तथ्य स्वीकार किया और विष के बदले चीनी देने के कारण का स्पष्टीकरण करते हुए कहा—"मुझे ज्ञात नहीं था कि विष का उपयोग इस प्रयोग में होने वाला है तथा यह संदेह हो गया था कि विष-क्रेता व्यक्ति आत्मघात करना चाहता है, इसीलिए विष के बदले उसी वर्णवाली यह चीनी दी थी।"

'बसु' ने यह भी सिद्ध किया कि जीवित प्राणियों में पाये जाने वाले (१) सचेतनता (Irritability), (२) स्पंदनशीलता (Movement), (३) शारीरिक गठन (Organisation), (४) भोजन (Food), (५) वर्धन (Growth), (६) श्वसन (Respiration), (७) प्रजनन (Reproduction), (८) अनुकूलन (Adoptation), (९) विसर्जन (Excretion), (१०) मरण (Death) आदि समस्त विशेष गुण वनस्पतियों में विद्यमान हैं। ये गुण निर्जीव पदार्थों में नहीं पाये जाते हैं, अतः वनस्पति निर्जीव पदार्थ न होकर सजीव है। आज विज्ञान-जगत् में वनस्पति विज्ञान, जीवविज्ञान की प्रमुख शाखा बन गयी है। आगे वनस्पति जीवों में पाये जाने वाले उपर्युक्त विशेष गुणों पर क्रमशः प्रकाश डाला जा रहा है—

(१) सचेतनता—जीवित पदार्थों का प्रथम प्रमुख गुण है सचेतनता अर्थात् अनुभव या संवेदन करने की शक्ति। इस गुण के कारण ही जीव बाहरी वस्तुओं के प्रभाव का अनुभव करता है तथा उनके प्रति उचित क्रिया या प्रतिक्रिया करता है। वनस्पति में भी सचेतनता उसी प्रकार विद्यमान है, जिस प्रकार पशु-पक्षी, मनुष्य आदि अन्य प्राणियों में। प्यासे केले के पौधे को जल मिलते ही वह उसे पीने लगता है। उसके जलपान की इस क्रिया की आवाज पौधे के पास बैठे व्यक्ति को स्पष्ट सुनाई देती है। पौधों को जल मिलने पर उनके मुरझाये हुए फूल पुनः खिल उठते हैं, कुम्हलाये हुए पत्ते हरे हो जाते हैं।

प्रकाश, पानी, पवन, पृथ्वी की आकर्षण शक्ति, परिस्थिति-परिवर्तन, ताप आदि उत्तेजकों का प्रभाव वनस्पति पर विभिन्न प्रकार से पड़ता है। वनस्पतिविज्ञान में प्रकाश के प्रभाव को हिलियोट्रापिज्म (Heliotropism), पानी के प्रभाव को हाइड्रोट्रापिज्म (Hydrotropism) और पृथ्वी की आकर्षण शक्ति के प्रभाव को जियोट्रापिज्म (Geotropism) कहते हैं। प्रयोगों से इन उत्तेजकों के प्रति वनस्पति की क्रिया-प्रतिक्रिया स्पष्ट देखी जा सकती है।

हिलियोट्रापिज्म—प्रकाश का प्रभाव वनस्पति के अलग-अलग अंगों पर अलग-अलग प्रकार से पड़ता है। तना प्रकाश की ओर बढ़ता है, जड़ें प्रकाश से विरुद्ध दशा में बढ़ती है, पत्तियां अपने को प्रकाश-किरणों से समकोण पर रखने का यत्न करती हैं।

प्रयोग १.—पौधे लगे गमले को एक अंधेरे कमरे में रख दिया जाय और कमरे की खिड़की को थोड़ा-सा खोल दिया जाय तो कुछ ही दिनों में यह दिखाई देगा कि पौधों के सिरे उसी ओर मुड़ गये हैं जिधर से प्रकाश आ रहा है।

प्रयोग २.—एक अंकुरित चने को एक आलपिन द्वारा एक वोतल के कार्क से जड़ नीचे की ओर लटकती रखकर लगा दिया जाय। इस वोतल को उलट कर ऐसे बक्स में बन्द कर दिया जाय जिसके ऊपर से कुछ छेदों द्वारा प्रकाश आता हो। इस स्थिति में चने की जड़ ऊपर की ओर प्रकाश की तरफ होगी। कुछ दिनों के पश्चात् आपको ज्ञात होगा वह जड़ अपने आप ही मुड़ गई है और प्रकाश आने की विरुद्ध दिशा में बढ़ने लगी है।

पौधों की इसी प्रकृति के कारण उनके तने सदा भूमि से ऊपर प्रकाश की ओर व जड़ें जमीन के अन्दर प्रकाश से विरुद्ध अन्धकार की दिशा में बढ़ती हैं।

हाइड्रोट्रापिज्म—जिधर जल की मात्रा अधिक मिलती है, जड़ें उधर ही मुड़ जाती हैं। यदि किसी पौधे को एक ओर जल से सींचा जाय और दूसरी ओर सूखा ही रहने दिया जाय तो पौधों का बहुत बडा भाग मुड़कर जलवाले भाग की ओर बढ़ने लगेगा।

जियोट्रापिज्म—जिस प्रकार मनुष्य पृथ्वी की गुरुत्वाकर्षण शक्ति से परिचित होने से पैर पृथ्वी की ओर और सिर अंतरिक्ष की ओर रखता है, उसी प्रकार वृक्ष भी गुरुत्वाकर्षण शक्ति के प्रभाव से परिचित होते हैं। वे अपने पैर (जड़ें) धरती की ओर और धड़ (तना) अन्तरिक्ष की ओर रखते हैं। उदाहरण के लिए किसी पर्वत की ढलान वाली भूमि पर उगे हुए चीड, देवदारु आदि के किसी वृक्ष को देखिए। वह वृक्ष ढलानवाली सतह के साथ ९०° का कोण कदापि न बनायेगा अथात् वहां भी धरती की सतह के साथ ९०° का कोण बनाता हुआ सीधा ही खड़ा होगा। दूसरा उदाहरण लीजिये एक पौधेयुक्त गमले को खड़े रखने की बजाय सपाट लिटा दीजिये। कुछ दिनों में आप देखेंगे कि पौधे का तना घुमाव लेता हुआ धरती में समकोण (९०°) बनाता हुआ सीधा ऊपर जा रहा है।

जिस प्रकार मनुष्य को जल, ताप आदि की अत्यधिक व अत्यल्प मात्रा असह्य होती है, उसी प्रकार वनस्पति को भी असह्य होती है। पौधा अधिक जल में गल जाता है तथा जल के अभाव में सूख जाता है। अधिक धूप में जल जाता है तथा अधिक शीत में ठिठुर कर ठूंठ बन जाता है। यही नहीं, वनस्पति में आहार, भय, मैथुन, परिग्रह, क्रोध, मान, माया, लोभ, हर्ष, शोक, निद्रा आदि चेतनत्व के अभिव्यंजक सब गुण पाये जाते हैं। इनका विशेष वर्णन अगले प्रकरणों में किया जायेगा।

(२) स्पंदनशीलता (Movement)—जीव अपनी अतिरिक्त शक्ति तथा प्रेरणा से स्पंदन, हलन-चलन व गति करते हैं। जीव की इन्हीं गतिविधियों को जीव-विज्ञान में गति कहा जाता है। यह गति दो प्रकार की होती है—एक स्थान से दूसरे स्थान तक जाना व शरीर के अंग उपांगों में स्पंदन और संचरण होना। चर जीवों में दोनों प्रकार की गतियाँ पाई जाती है। साधारणतः वनस्पतियां अपने स्थान पर ही स्थिर रहती है। उनमें गति तने, पत्र, पुष्प आदि की वृद्धि के रूप में या संवेदन से होने वाली हलन-चलन के रूप में देखी जाती है। छुई-मुई के पौधे को छूते ही उसमें हलचल प्रारम्भ हो जाती है। उसकी पत्तियाँ सट जाती है और टहनियां झुक जाती है। सूर्यमुखी फूल सदा सूर्य की ओर मुँह किए रहता है और सूर्य के घूमने के साथ-साथ अपना मुँह भी घुमाता रहता है। कमलिनी की कलियाँ सूर्यास्त के समय स्वतः बन्द हो जाती हैं और सूर्योदय होने पर पुनः खिल उठती है। सनड्यू और वीनस-फ्लाइ-ट्रैप के पौधे अपने फूलों पर कीट पतंगों के बैठते ही उन्हें अपने नाग-पाश में बांध लेते हैं। इस शिकार-क्रिया की फुर्ती इतनी चामत्कारिक होती है कि एक सैकिण्ड के शतांश में ही खेल खतम हो जाता है।"[1]

---

१ विज्ञान लोक, अप्रैल १६६२ पृ. १४

(३) शारीरिक गठन (Organisotion)—जीवधारियों के शरीर का गठन किसी विशेष व निश्चित आकार-प्रकार और रूप रंग का होता है। एक ही जाति के जीव-जन्तु रूप व आकार में एक से होते हैं, किन्तु निर्जीव वस्तुओं में यह बात नहीं होती है। उदाहरणार्थ निर्जीव पदार्थ कागज को लीजिये। वह किसी भी आकार-प्रकार, रूप-रंग का व छोटा-बड़ा हो सकता है परन्तु सजीव कुत्ता न तो चीता के बराबर बड़ा ही और न चींटी के बराबर छोटा ही हो सकता है। साथ ही कुत्तों के शरीर का गठन व आकृति एक-सी व अन्य प्राणियों से भिन्न होती है। इसी प्रकार वनस्पतियाँ भी अपना निश्चित प्रकार का शारीरिक गठन, रूप व आकार रखती हैं अर्थात् एक जाति की वनस्पति का रूप, पत्ते, फल, फूल आदि का गठन एकसा होता है।

(४) भोजन और उसका स्वीकरण (Food and its assimilation)—प्रत्येक जीव शारीरिक शक्ति, वृद्धि व क्षतिपूर्ति के लिए भोजन करता है। भक्षित पदार्थों को शारीरिक तत्त्वों के रूप में परिणमन कर उसे शरीर का अंग बना लेने की क्रिया को स्वीकरण या अंगीकरण कहते हैं। यह क्रिया जीवधारी में ही पाई जाती है, जड़ वस्तु में नहीं। वनस्पति में यह क्रिया प्रत्यक्ष देखी जाती है। वह मिट्टी, पानी, पवन आदि से भोजन ग्रहण कर शक्ति प्राप्त करती व अंगों को पुष्ट करती है। यही नहीं, अन्य प्राणियों के समान वनस्पतियाँ भी दुग्धाहारी, निरामिषाहारी, मांसाहारी आदि कई प्रकार की होती हैं। इसका विशेष वर्णन 'आहार के प्रकार' प्रकरण में देखने को मिलेगा।

(५) प्रवर्धन (Growth)—जीवित पदार्थों के शरीर में वृद्धि होती है। पशु-पक्षी आदि जीवों के बच्चे बढ़कर बड़े होते हैं। यह वृद्धि आंतरिक होती है। इस वृद्धि में समय, आकार व आयतन की अधिकतम सीमा निश्चित होती है। यह गुण जड़ पदार्थों में नहीं पाया जाता है, केवल जीवित प्राणियों में ही पाया जाता है। वन-

स्पतियों में भी यह गुण विद्यमान है। वटवृक्ष का एक नन्हा-सा बीज अपनी आंतरिक शक्ति से बढ़कर विशाल वृक्ष बन जाता है। उसके फल, फूल, पत्ते एक निश्चित सीमा तक ही बढ़ते है। उसके फल बढ़कर न तो लौकी जैसे लम्बे ही होते हैं और न पेंठे जैसे मोटे ही।

(६) श्वसन (Respiration)—जैनदर्शन के समान विज्ञान की भी यह मान्यता है कि विश्व के समस्त सजीव प्राणियों में श्वसन क्रिया विद्यमान है। इस विषय में वैज्ञानिकों का कथन है कि जीवित प्राणियों में सतत श्वसन क्रिया चलती रहती है। इस क्रिया के लिए शक्ति की आवश्यकता होती है। जीवों को इस शक्ति की प्राप्ति उनके द्वारा ग्रहण किए आहार से उत्पन्न आक्सीकरण से होती है। आक्सीकरण के परिणामस्वरूप कार्बन डाइ-आक्साइड बनती है। यह एक विषैली गैस है जिसे शरीर से बाहर निकालना आवश्यक है। जीवित रहने के लिए आक्सीजन प्राप्त करना व इससे उत्पन्न कार्बनडाइ आक्साइड बाहर निकालना नितांत आवश्यक है। प्राणी हवा से आक्सीजन प्राप्त करने के लिए श्वास लेता है और उच्छ्वास के रूप में कार्बन डाइ-आक्साइड शरीर से बाहर फेंकता है। जीव-विज्ञानशास्त्र में इसी श्वासोच्छ्वास प्रक्रिया को श्वसन कहा जाता है। त्रस जीवों में यह क्रिया श्वसन-संस्थान (फेफड़े, गलफड़े आदि) द्वारा होती है और वनस्पति में पत्रों आदि द्वारा होती है। हवा या जल के अभाव में अन्य प्राणियों के समान वनस्पति में भी श्वसन क्रिया में अवरोध उत्पन्न होने पर वह मुरझा कर मर जाती है। वनस्पति में श्वसन-क्रिया होती है, इसे निम्नांकित प्रयोगों में देखा जा सकता है।

प्रयोग १—कांच के एक जार में कोई पौधा रखिये। उसे किसी बड़े बेलजार से ढंकिए। बेलजार के अन्दर एक कांच के गिलास में चूने का साफ पानी भर कर रख दीजिए। बेलजार को काले कपड़े

से ढंककर रातभर पड़ा रहने दीजिए। प्रातः चूने के पानी को हिलाकर देखेंगे तो वह दूधिया होगा। इसके दूधिया होने का कारण पौधे के उच्छ्वास द्वारा छोड़ी गई कार्बन-डाई-ग्रावसाइड गैस ही है।

प्रयोग २—शीशे की चौड़े मुँहवाली बोतल में थोड़े से अंकुरित चने भरकर डाट इस प्रकार बंद कर दीजिये कि हवा उसमें न जा सके। उसे अन्धेरे में रख दीजिये। इसी प्रकार बोतल में कुछ अंकुरित चनों को पानी में उबालने के बाद भरकर उसी प्रकार रख दीजिये। दूसरे दिन पहली बोतल को खोलकर उसमें जलता हुआ पलीता छोड़िये। पलीता तुरन्त बुझ जायेगा। दूसरी बोतल में भी ऐसा ही कीजिये। इसमें पलीता जलता रहेगा। इसका कारण यह है कि पहली बोतल में जो अंकुरित चने थे, वे जीवित थे। अतः उनकी श्वासोच्छ्वास क्रिया द्वारा कार्बन-डाई-ग्रावसाइड गैस उत्पन्न हुई और इसी गैस की विद्यमानता से उसमें पलीता बुझ गया। दूसरी बोतल में जो अंकुरित चने थे वे उबाले जाने से मृत हो गये थे। इसलिए उसमें श्वासोच्छ्वास नहीं हुआ और कार्बन-डाई-ग्रावसाइड गैस पैदा नहीं हुई। इसीलिए पलीता जलता रहा। इससे सिद्ध होता है कि जीवित पौधों में श्वासोच्छ्वास क्रिया होती है, मृत में नहीं। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि जैनागमों में उबलने से वनस्पति का मृत या निर्जीव हो जाना बतलाया गया है जो जीव-विज्ञानविषयक उपर्युक्त प्रयोगों से प्रत्यक्ष प्रमाणित होता है।

७. उत्पादन या प्रजनन (Reproduction)—जीवधारियों में अपनी जाति को स्थायी रखने के लिए प्रजनन की शक्ति होती है। पक्षी अंडे देकर तथा पशु अपनी ही आकृति-प्रकृति के बच्चे पैदा करके अपनी जाति की वंश-परम्परा को बनाये रखते हैं। इसी प्रकार वनस्पति भी अपने बीज से अपने ही समान नये पौधों को जन्म देकर अपनी वंश-परम्परा को बनाये रखती है। इतना ही नहीं, अन्य प्राणियों के समान इनमें मैथुन व अन्य क्रियाएं भी होती हैं। आज इस

विषय का ज्ञान इतना अधिक विस्तृत हो गया है कि वनस्पति-विज्ञान में भ्रूण-विज्ञान नामक एक नई शाखा ही खुल गई है।

८. अनुकूलन (Adoptation)—जीवधारियों में अपने आपको परिस्थिति के अनुकूल ढालने की अनुपम क्षमता होती है। घास में रहनेवाले जन्तुओं का रंग हरा या उसी घास के रंग का तथा मिट्टी में रहने वाले जन्तुओं का रंग मटमैला या उसी मिट्टी के रंग का होता है, जिससे वे जन्तु अपने को शत्रुओं से छिपाकर जीवन-निर्वाह व रक्षा कर सकें। गिरगिट तो प्रकृति के अनुरूप रंग बदलने में विख्यात ही है। पौधों में भी यह अनुकूलन क्रिया होती है। रेगिस्तान के पौधों की पत्तियाँ सजल स्थानों के पौधों की अपेक्षा छोटी होती हैं, जिससे उनके द्वारा भाप बनकर पानी कम उड़े और वे कम पानी में ही जीवन-यापन कर सकें।

९. विसर्जन (Excretion)—जीवों की शारीरिक प्रक्रियाओं के परिणामस्वरूप यूरिया, यूरिक, अम्ल, कार्बन-डाई-आक्साइड आदि अनेक दूषित व मल पदार्थ बनते हैं। इनको शरीर से बाहर निकालने की क्रिया को विसर्जन या नीहार कहा जाता है। पशु-पक्षियों में यह क्रिया गुर्दों, त्वचा, फेफड़ों, आंतों आदि द्वारा होती है। पौधों में यह क्रिया पत्तियों द्वारा श्वसन, स्वेदन व झड़ने के रूप में होती है।

१०. मृत्यु (Death)—जीवित पदार्थ कुछ समय तक तीव्र वृद्धि करते हैं। फिर वृद्धि धीमी पड़ जाती या रुक जाती है और अन्त में वे मर जाते हैं। यहाँ मर जाने का अर्थ है जीवन-क्रियाओं का सदा के लिए बंद हो जाना। जीवों की अधिकतम आयु निश्चित होती है। वनस्पति भी जन्म लेती, बढ़ती व जीवन-क्रिया बन्द हो जाने पर मुरझाकर मर जाती है।

सजीवता-निर्देशक उपर्युक्त लक्षण-सचेतनता, स्पंदनशीलता

शरीर-निर्माण, भोजन, श्वसन, प्रजनन, अनुकूलन, विसर्जन और मरण केवल जीव-धारियों में ही पाये जाते हैं। निर्जीव पदार्थों में इनमें से एक भी नहीं पाया जाता है। इनमें केवल एक गुण या लक्षण की उपलब्धि या अभिव्यक्ति ही सजीवता का ज्वलन्त प्रमाण होता है। उपर्युक्त प्रमाणों से यह प्रत्यक्ष सिद्ध है कि वनस्पति में सजीवता-प्रदर्शक उक्त सभी लक्षण या गुण विद्यमान हैं। अतः वनस्पति की सजीवता में सन्देह को स्थान नहीं रह जाता है।

जैनदर्शन की समानता—जैन आगमों में वनस्पतिविषयक विभिन्न वर्गीकरणों द्वारा जो वर्णन आया है उसमें और उपर्युक्त वैज्ञानिक विवेचन में पर्याप्त समानता है, यथा—वनस्पति में चार पर्याप्तियाँ कही गई हैं—

तेसि णं भंते ! जीवाणं कई पज्जत्तीओ पण्णत्ताओ ? चत्तारि पज्जत्तीओ, पण्णत्ताओ, तंजहा-आहारपज्जत्ती, सरीरपज्जत्ती, इदियपज्जत्ती, आणपाणुपज्जत्ती। —जीवाभिगम

अर्थात् पृथ्वीकाय के समान वनस्पतिकाय जीवों में भी आहार, शरीर, इन्द्रिय और श्वासोच्छ्वास ये चार पर्याप्तियां होती हैं। अभिप्राय यह है कि वनस्पतिकाय के जीव उत्पन्न होते ही सर्वप्रथम आहार करते हैं। आहार से शरीर का गठन और वर्धन होता है। शरीर के गठन से इन्द्रिय का प्रादुर्भाव होता है जिससे प्राणी में संवेदन-स्पंदन आदि क्रियाएँ होती है। पश्चात् जीवनक्रम व्यवस्थित चलाये रखने के लिए श्वासोच्छ्वास क्रिया प्रारंभ होती है। इस प्रकार पर्याप्ति के कथन में सचेतनता के साथ आहारपर्याप्ति में भोजन, शरीरपर्याप्ति में शारीरिक गठन एवं वर्धन, इन्द्रिय-पर्याप्ति में संवेदन व स्पंदनशीलता तथा श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति में श्वसन क्रिया रूप में विज्ञान-जगत् में कथित सजीवता के ६ लक्षण समाहित हो जाते हैं। जैन आगमों में वनस्पति में चार प्राण-स्पर्शेन्द्रिय, काय,

श्वासोच्छ्वास और आयुष्य—कहे हैं। इसमें कथित आयुष्य प्राण की अंतिम स्थिति ही विज्ञान में कथित 'मरण' है। भगवतीसूत्र शतक १६ उ. ३ सू. ८ में वनस्पति गृहीत आहार के निस्सार पदार्थ का विसर्जन करती है, यह स्पष्ट उल्लेख है। प्रजनन, मैथुनसंज्ञा का व अनुकूलन की प्रवृत्ति, मति-श्रुत ज्ञान की द्योतक है। जैनागम वनस्पति में मैथुन-संज्ञा और मति-श्रुत ज्ञान मानते हैं। इन सबका विशेष वर्णन आगे प्रसंगानुसार प्रकरणों में मिलेगा। आशय यह है कि जैनागमों में विज्ञानजगत् में कथित वनस्पति की सजीवता के सभी लक्षणों का विशद वर्णन मिलता है।

उपर्युक्त वनस्पतिविषयक 'जैनागमों में आए सूत्रों' एवं 'वैज्ञानिक विवेचन' के तुलनात्मक अध्ययन से यह स्पष्ट प्रकट हो जाता है कि वनस्पति को सजीव सिद्ध करने वाले जो तथ्य विज्ञानजगत् में अन्वेषणों से अभी सामने आए हैं, उनके बीज जैन-शास्त्रों में पूर्वतः ही विद्यमान हैं। जैनागमकार उनसे सहस्रों वर्ष पूर्व ही परिचित थे।

वनस्पतिकाय के भेद

"वणस्सइकाइया दुविहा पण्णत्ता, तंजहा-सुहुमवणस्सइकाइया य बायरवणस्सइकाइया य।" —पन्नवणा, प्रथम पद, सूत्र १३

अर्थात् वनस्पतिकाय के दो भेद हैं सूक्ष्म वनस्पतिकाय और बादर वनस्पति काय।

बायरवणस्सइकाइया दुविहा पण्णत्ता तंजहा-पत्तेअसरीरबायरवणस्सइकाइया य, साहारणसरीरबायरवणस्सइकाइआ य। से किं तं पत्तेअसरीरबायरवणस्सइकाइया? पत्तेअसरीरबायरवणस्सइकाइया दुवालसविहा पण्णत्ता, तंजहा-रुक्खा, गुच्छा, गुम्मा, लता य वल्ली य पव्वगा, चेव तण-वलय-हरिय-ओसहि-जलरुह-कुहणा य बोद्धव्वा। —पन्नवणा, पद प्रथम

बादर वनस्पतिकाय दो प्रकार की है, यथा—प्रत्येक शरीर बादर वनस्पतिकाय और साधारण शरीर बादर वनस्पतिकाय। प्रत्येक शरीर बादर वनस्पतिकाय के १२ भेद कहे हैं—(१) वृक्ष (२) गुच्छ (३) गुल्म (४) लता (५) वल्ली (६) पर्व (७) तृण (८) वलय (९) हरित (१०) औषधि (११) जलरुह और (१२) कुहन।

आधुनिक वनस्पतिविज्ञान भी वनस्पति के उपर्युक्त वर्गीकरण को प्राय: पूरा का पूरा स्वीकार करता है। यही नहीं, पन्नवणासूत्र में उक्त प्रकरण में आये इन वनस्पतियों के उपभेदों को भी स्वीकार करता है। विस्तार के भय से यहां संक्षेप में ही उल्लेख किया जा रहा है।

प्रत्येकशरीरी जीव उसे कहा जाता है जो एक शरीर का स्वामी एक ही जीव हो अर्थात् प्रत्येक जीव का अपना शरीर पृथक्-पृथक् होता है, यथा—"जह सगलसरिसवाण, सिलेसमिस्साणं वट्टिआवट्टा। पत्तेअसरीराणं तह होंति सरीरसंघाया। —पन्नवणा प्रथम पद

जैसे अनेक सरसव के दानों को गुड़ में मिलाकर उसका लड्डू बनावें। वह लड्डू एक पिण्ड रूप में रहता है। इसमें सरसों के सब दाने पृथक्-पृथक् रहते हैं, वैसे ही बाह्य में एक ही पिण्ड रूप में दिखने पर भी जीव अपना शरीर का व्यक्तित्व पृथक्-पृथक् रखते हैं वे प्रत्येक-शरीरी कहलाते हैं। ये प्रत्येकशरीरी वनस्पतिकायिक जीव अनेक प्रकार के हैं। पौधे में रहने वाला एक जीव भी प्रत्येकशरीरी है और उसके भाग मूल, स्कंध, शाखा, पत्र, पुष्प व फल में व उसके विभिन्न भागों में संयुक्त रूप में रहनेवाले जीव भी प्रत्येक शरीरी हैं। ये संख्या में एक, दो, असंख्य, अनन्त हो सकते हैं। एक बार स्व. बाबू छोटेलालजी ने एक मण्डली सहित श्री जगदीशचन्द्र वसु की प्रयोग-शाला से इसका समाधान चाहा कि वृक्ष के पत्ते, फल, फूल, बीज आदि में भी अलग-अलग जीव हैं या नहीं? अनुसंधानशाला में यन्त्रों

के माध्यम से पत्र-पुष्प आदि में पृथक्-पृथक् जीव प्रमाणित किए गए थे। पौधे के अतिरिक्त पुष्प में भी अपना पृथक्-पृथक् जीव है, यह निम्नांकित प्रयोग से सिद्ध होता है—

'एक तुरन्त के तोड़े डंठल सहित सफेद गुलाब को या अन्य किसी फूल को लाल पानी में डंठल डुबाकर रखिये। थोड़ी देर में फूल की पंखुडियों पर लाल रंग जगह-जगह दिखलाई देगा।"[1]

उपर्युक्त प्रयोग से स्पष्ट प्रकट होता है कि यदि फूल में अपना पृथक् जीव न होता तो वह पौधे से टूटने पर मृत हो गया होता और लाल रंग का जलपान न कर सकता। फूल ही नहीं प्रत्येक बीज भी सजीव होता है। कहा भी है—

जोणिभूए बीए जीवो वक्कमइ सो व अन्नो वा।
जोवि य मूले जीवो, सो वि हु पत्ते पढमयाए॥
—पन्नवणा, प्रथम, पद सूत्र १४

अर्थात् योनिभूत बीज ही उत्पन्न होते हैं। जो बीज छेदन-भेदन करने व भुने जाने से निर्जीव हो गये हैं वे उत्पन्न नहीं होते हैं। जौ, गेहूँ, मक्का, ज्वार, बाजरा आदि अनाज के दाने योनिभूत बीज ही हैं और सचित्त (सजीव) हैं, जैन साधु इन जीवों को किसी प्रकार का कष्ट या संताप न हो एतदर्थ छूते भी नहीं हैं। आधुनिक वनस्पतिविज्ञान इन्हें जीव स्वीकार करता है। खाद्य-विशेषज्ञ डा. पिगले का कथन है—"अनाज भी एक जीवित प्राणी है और उसकी सुरक्षा आदमी की तरह ही करनी चाहिए।"[2]

आगे आगमकार साधारण वनस्पतिकाय या निगोद जीवों का वर्णन करते हुए कहते हैं—

---

१ प्रारंभिक जीवविज्ञान पृ. १६७
२ नवभारत टाइम्स १२ अगस्त १९६७

सुहुमा अणागिज्भा चक्खुफासं न ते एंति ।
एगस्स दोण्ह तिण्ह व, संखेज्जाणं वणपासउं सक्का ।
दीसंति सरीराइं णिगोअजीवाणंताणं ।

—पन्नवणा, प्रथम पद

अर्थात् साधारण वनस्पतिकाय या निगोद के जीव इतने सूक्ष्म हैं कि वे चक्षु से अग्राह्य हैं और देखने में नहीं आते हैं तथा निगोद के भी एक, दो, तीन, संख्यात व असंख्यात जीवों का शरीरपिण्ड नहीं देखा जा सकता है परन्तु अनन्त जीवों का शरीरपिण्ड ही देखा जा सकता है ।

जस्स मूलस्स भग्गस्स समो भंगो पदीसइ । अणंतजीवे उ से मूले जे आवण्णे तहाविहा । साहारणसरीरबायर-वणस्सइकाइया अणेगविहा पण्णत्ता, तंजहा-अवए, पणए, सेवाले, लोहिणो, मिहूत्थिहूत्थिभगा ।

—पन्नवणा, प्रथम पद

··· एत्थ णं बायरवणस्सइकाइयाणं पज्जत्तगाणं गणा पण्णत्ता, उववाएणं, सव्वलोए, समुग्धाएणं सव्वलोए,

—पन्नवणा, द्वितीय पद

अर्थात् जिस वनस्पति के मूल, स्कंध, शाखा, पत्ता, पुष्प व फल में से *किसी को तोड़कर टुकड़ा करने से चक्राकार-गोलाकार सम*-विभाग दिखाई दे, वह अनंतजीवधारी साधारण वनस्पतिकाय है । इसके अवक, पणक, शैवाल आदि अनेक प्रकार हैं । बादर वनस्पतिकाय भी सम्पूर्ण लोक से उत्पन्न होती है ।

उपर्युक्त आगम-कथन से यह स्पष्ट है कि वनस्पति संपूर्ण विश्व के लोकाकाश में विद्यमान है । साधारण वनस्पतिकाय जीव अत्यन्त सूक्ष्म व गोलाकार हैं तथा शैवाल, पणक, किण्व, अवक, कुहण आदि भी वनस्पतिकाय जीव हैं ।

यूनिवर्सिटी आफ कैलिफोर्निया, बर्कले अमरीका की एक विशाल संगोष्ठी में विख्यात औद्योगिक प्रतिष्ठान 'इलेक्ट्रो आप्टिकल सिस्टम' के डा. फ्रेड एम. जान्सन ने एक मौलिक शोधप्रबन्ध में पढ़ा—"दूर अन्तरिक्ष में फैले धुलिकणों की बावत यह आम धारणा है कि वे ग्रैफाइट अथवा बर्फ के बने हैं, अब बहुत सही नहीं मालूम देती। स्पेक्ट्रम-परीक्षण के आधार पर मेरी राय है कि ये कण क्लोरोफिल से बने हैं। सभी पेड़ पौधों का वह पदार्थ, जो उन्हें हरा रंग प्रदान करता है, क्लोरोफिल ही है।"[1]

सूक्ष्मवनस्पतिकाय के विषय में आगमों में आया है कि उस पर किसी भी पदार्थ का मरण, छेदन-भेदन, शीत-ताप रूप प्रभाव नहीं पड़ता है, इसी सिद्धान्त का समर्थक उद्धरण पठनीय है—

"अमरीका की अंतरिक्ष-प्रयोगशालाओं द्वारा किये गये प्रयोगों से यह सिद्ध हुआ है कि प्लैवोवेक्टिन जीवाणु अति सूक्ष्म व अद्भुत प्राणी हैं क्योंकि इनमें न जन्म है, न मृत्यु है, न विकास है, न नाश। इन्हें जीवित रहने के लिए न भोजन की आवश्यकता है, न वायु की। वे बिना किसी यान के अन्तर्ग्रहीय यात्राएं कर सकते हैं। 'प्लैवोवेक्टिन" जीवाणुओं पर अधिक ताप और शीत का भी कोई प्रभाव नहीं पड़ता। ये अवातजीवी हैं। इनका भोजन भास्वीय है।"[2]

जैनागमों में इसी से मिलता-जुलता वर्णन सूक्ष्म, स्थावर व निगोद के जीवों का आता है। केवल विचारणीय है तो जन्म-मरण न होने का विषय है। इसे समझने के लिए दर्शन में वर्णित एक विलक्षण तथ्य को ध्यान में लाना होगा और वह तथ्य यह है कि जैनदर्शन निगोद के शरीर के जन्म-मरण से निगोद के जीवों का जन्म-मरण नहीं मानता

१ नवनीत अगस्त १९६७, पृ. २१
२ नवनीत जून १९६१, पृ. ५६-६०

है अपितु उस शरीर के ज्यों के त्यों विद्यमान रहते हुए भी उस शरीर में स्थित अनन्त जीवों का जन्म-मरण निरन्तर होता रहना मानता है। इस दृष्टि से यदि वैज्ञानिकों को इन सूक्ष्मतम जीवों के शरीर नष्ट होते नजर न आये हों और इसलिए उनका जन्म-मरण न माना हो तो इससे जैनागमों से कोई असंगति नहीं होती, प्रत्युत् समर्थन ही होता है। वैज्ञानिकों द्वारा इन जीवों को एक ओर तो अनाहारी मानना और दूसरी ओर भास्वीय आहारी मानना जैनदर्शन की इस मान्यता को पुष्ट करने वाला है कि सूक्ष्म-निगोद के जीव आहारी हैं।

जैनागमों में निरूपित सूक्ष्म स्थावर जीवों की तुलना बैक्टेरिया जीवों से की जा सकती है। बैक्टेरिया जीवों के विषय में वैज्ञानिकों का कथन है कि "ये कीटाणु इतने छोटे होते है कि सूक्ष्म-दर्शक-यन्त्र से भी इनका पता लगाना कठिन है। संसार में कोई जगह ऐसी नहीं जहां ये न हों। ये कीटाणु हर किस्म के पानी में, हवा में, हर ऊंचाई पर, जमीन की गहराई तक, मरे हुए या जीवित जानवरों में और पौधों के अन्दर पाये जाते हैं। बहुत से कीटाणु तो हरएक ताप-क्रम पर रह सकते हैं।"[1] यह कथन जैनागमों में सूक्ष्म स्थावर जीवों के आये हुए विवेचन से मेल खाता है। बैक्टेरिया प्राणी आकृति-प्रकृति के अनुसार कितने ही प्रकार के हैं। इनमें से सूक्ष्म गोलाकार आकृति के कीटाणु जिन्हें कोकाई (Cocai) कहते हैं[2] तथा चक्करदार आकृति के कीटाणु जिन्हें स्पाइरल (Spiral) कहते हैं[3] सूक्ष्म या निगोद वनस्पतिकाय में गर्भित हो सकते है।

पन्नवणा-जीवाभिगम आदि आगमों में लीलण-फूलण, काई-फफूंदी आदि को भी वनस्पतिकायिक जीव माना है। उनमें से कुछेक का आगे संकेत रूप में विवेचन कर यह दिखाया जायेगा कि सूत्र-

---

१ कृषि-शास्त्र पृ. १२५

२ ३ वही, पृ. १२६

कारों का उक्त प्रतिपादन पूर्णतः विज्ञानसम्मत है—

प्रथम पणक जाति की वनस्पति को ही लिया जाता है —"पणकं-साद्र्ष्टक-भूमि-कुड्योदभवकालिकाः"[1] अर्थात् ईंट, भूमि, भींत की नमी में उत्पन्न हुई कालिक-काई-पणक वनस्पति है। इस विषय में वनस्पतिविज्ञान का कथन है कि "दीवालों पर तथा नमी वाले स्थानों पर हरी-सी काई होती है यह फ्यूनेरिया (Funaria) जाति की वनस्पति है।"[2]

कुहणम्-आहारकञ्जिकादिगतपुष्पिका।"[3] अर्थात् खाद्य पदार्थ व कांजी आदि में उत्पन्न हुई फफूंदी (फूलण) कुहण जाति की वनस्पति है। "किण्वं वर्षाकालोद्भवछत्राणि।"[4] वर्षा-काल में उत्पन्न छतरी-कुकुरमुत्ता किण्व वनस्पति है। अर्थात् जैनागम में अचार पर छाई जाने वाली काली-सी फफूंदी, १-२ दिन की बासी रोटी पर जमने वाला सफेद या काली रुई का-सा पदार्थ, सड़ी-गली वस्तुओं पर आने वाली फुई को कुहण वनस्पति कहा है। वर्तमान वनस्पतिविज्ञान भी इन सब पदार्थों पर आने वाली फुई या फफूंदी को फंगाइ (Fungi) वनस्पति मानता है[5] तथा किण्व-कुकुरमुत्ता-सांप को भी फफूंदी जाति की ही वनस्पति मानता है।[6]

"शैवालमुदकगतकायिका हरितवर्णा[7] अर्थात् जल में रही हरे वर्णवाली शैवाल भी वनस्पति है तथा "कवकः शृङ्गोद्भवयांकुरा जटाकाराः।"[8] अर्थात् सींगों पर जटाकार अंकुरित वनस्पति 'कवक' कही जाती है। वर्तमान विज्ञान भी इन दोनों को तथा पन्नवणा सूत्र में पेड़ के तने व छाल में अनंतकाय वनस्पति को एलगी (Algae) जाति की वनस्पति मानता है। पशुओं के सींग आदि पर उत्पन्न होने

१ ३, ४, ७, ८. आशाधर, अनगार धर्मामृत टीका
२ ५, ६. देखिये डा. कृषि-शास्त्र पृ. १२०-१२५

वाली वनस्पति में सिमबियोटिक्लीं, जुवलोरेला, हायड्रा विरिड्स आदि मुख्य हैं।[1]

जैनदर्शन खमीर व मनुष्य के शरीर में भी निगोद जीव मानता है। आधुनिक कीटाणुवाद के जनक लुईपाश्चर ने खमीर को एक वानस्पतिक जीवकोष सिद्ध किया है। खमीर के पौधे की शारीरिक रचना अन्य वानस्पतिक जीवकोषों जैसी होती है। यह या तो गोलाकार होता है या अण्डाकार। वजन में एक ग्राम का दस अरबवां हिस्सा होता है। खमीर का पौधा मिठास का बड़ा शौकीन होता है इसलिए फूलों के मकरंदों में तथा अंगूर-सेव के छिलकों पर सफेदी की जो हल्की-सी परत छायी रहती है वह खमीर के पौधों का जंगल ही होता है।

खमीर अनेक जाति का होता है। इसकी एक जाति मनुष्य की त्वचा पर भी उग आती है। इसे अंग्रेजी में यीस्ट कहा जाता है।"[2]

"ग्रीष्म ऋतु में आटे के खट्टा हो जाने, शर्बत के खट्टे पड़ जाने में भी एक सेल वाली फफूंदी ही कारण है। पेनिसिलिन जैसी दवाएं भी फफूंदी ही से बनती हैं।"[3]

आशय यह है कि जीवाभिगम व पन्नवणा सूत्र में साधारण-निगोद वनस्पतिकाय की ऐसी जातियों का उल्लेख मिलता है जो न तो चक्षुओं से दिखाई ही देती हैं और न बुद्धि जिन्हें वनस्पति मानने को ही तैयार होती है तथापि आज उन्हें वनस्पति-विज्ञान ठीक उसी प्रकार की वनस्पति मानता है जैसा कि आगमों में उनका निरूपण है। यह इस बात का साक्षी है कि इन सूत्रों के प्रणेता निश्चय ही अंतर्द्रष्टा थे।

---

१ देखिये हा कृषि-शास्त्र पृ १२०-१२५
२ नवनीत मई ६० पृ. ३३
३ प्रा. कृषि-शास्त्र पृ. १२५

विद्वान् इसे अपने शोध का विषय बनाकर आश्चर्यकारी परिणाम सामने ला सकते हैं।

संज्ञा

जैनदर्शन वनस्पति को मात्र सजीव कहकर ही इतिश्री नहीं कर देता है अपितु इसकी प्रकृति, प्रवृत्ति प्रभृति का पचासों प्रकार से वर्गीकरण कर विस्तार से प्रकाश डालता है। जीवों में संज्ञाएं (इच्छाएं) होती हैं। अतः आगमों में संज्ञाओं का समासीकरण करते हुए कहा गया है—

> चत्तारि सण्णाओ पण्णत्ताओ तंजहा-आहारसण्णा, भयसण्णा, मेहुणसण्णा, परिग्गहसण्णा।
>
> —स्थानांग, स्थान ४ उ. ४ सूत्र २३

अर्थात् संज्ञाएं चार होती हैं, यथा—आहार-संज्ञा, भय-संज्ञा, मैथुन-संज्ञा और परिग्रह-संज्ञा। आगम में संसार के समस्त प्राणियों में उक्त चारों ही संज्ञाएं मानी गई हैं। वनस्पति भी इसका अपवाद नहीं है। प्रकृत में सर्वप्रथम वनस्पति की 'आहारसंज्ञा' का विवेचन किया जाता है।

आहार संज्ञा—साधारणतः इस बात से प्रायः सभी परिचित हैं कि पौधे बढ़ते हैं परन्तु यह बात बहुत कम व्यक्ति जानते हैं कि पौधे की यह वृद्धि उसी प्रकार भोजन से होती है जिस प्रकार हमारे शरीर की वृद्धि भोजन से होती है। प्रत्यक्ष ही देखा जाता है कि पौधों को खाद, जल, वायु, प्रकाश आदि आहार मिलना बन्द हो जाने पर ये मुरझाने तथा सूखने लगते हैं।

जैनागमों में वनस्पति के आहारविषयक विविध पक्षों पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। वनस्पति किस प्रकार का आहार करती है, इसका वर्णन करते हुए कहा गया है—

"ओसण्णकारणपडुच्च वण्णओ कालनील जाव सुक्किलाइं, गंधओ सुब्भिगंधाइं, दुब्भिगंधाइं, रसतो तित्त जाव मधुराइं, फासओ कक्खड मउय जाव निद्ध लुक्खाइं, तेसिं पोराणे वण्णगुणे जाव फासगुणे विपरिणामतित्ता, परिपीलइत्ता, परिसाडइत्ता, परिविद्धसइत्ता, अन्ने अपुव्वे वण्णगुणे, गंधगुणे जाव फासगुणे उप्पाएत्ता आतसरीरतो गाढे, पोग्गले सव्वप्पणयाए आहारमाहरेंति ।"

—जीवाभिगम, प्रथम प्रतिपत्ति, सूत्र १३

अर्थात् वनस्पतिकायिक जीव स्वाभाविक कारण रूप में काला, नीला आदि सब वर्णों का, सुगन्ध-दुर्गन्ध का, लवणीय, कटु, मधुर, आदि सब रसों का, कठोर, कोमल, रुक्ष, स्निग्ध आदि सब स्पर्श वाले पदार्थों का आहार ग्रहण करते हैं । ग्रहण किए हुए आहार के पूर्व के पुद्‌गलों के वर्ण, गंध, रस, स्पर्श को नवीन वर्ण, गंध, रस, स्पर्श में परिणमन करते हैं तथा सब आत्म-प्रदेशों से आहार करते हैं ।

आगमवर्णित उपर्युक्त तथ्य आज वनस्पति-विज्ञान-अनुसंधानशालाओं में किए गये प्रयोगों से प्रगट में आ गए हैं । प्रयोगों से यह ज्ञात हुआ है कि वनस्पति अपनी पत्तियों द्वारा हवा के साथ कार्बन-डाइ-आक्साइड का आहार ग्रहण करती है, उसे वह प्रकाश संश्लेषण (Photosynthesis) क्रिया द्वारा ग्लूकोज (शक्कर) में परिणत करती है । फिर ग्लूकोज का कुछ भाग स्टार्च में और कुछ भाग कार्बोहाइड्रेट में परिणत होता है तथा शेष भाग जड़ों द्वारा प्राप्त किए पदार्थों को अनेक तत्त्वों में बदल देता है । उनमें से कुछ हैं— आक्सीजन, नत्रजन, हाइड्रोजन, सल्फर, फासफोरस, केलशियम, पोटाशियम, मेगनेशियम, आयरन आदि । इनमें से आक्सीजन और हाइड्रोजन पानी के परिवर्तित रूप हैं, इसी प्रकार अन्य तत्त्व भी दूसरे पदार्थों के रूपान्तर हैं । तात्पर्य यह है कि वनस्पति में भोजन को विविध तत्त्वों में ग्रहण करने एवं उनका विश्लेषण करने की

विलक्षण शक्ति है। इसी शक्ति से मिट्टी में सोडियम और पोटाशियम सममात्रा में मिले होने पर भी जड़ें सोडियम की अपेक्षा पोटाशियम को अधिक मात्रा में लेती हैं। जड़ें फास्फोरिक एसिड जैसे कठोर पदार्थ को भी, जो जल में भी कठिनाई से घुलता है, भोजन में ग्रहण करती हैं। काले व लाल वर्ण का गोबर-मेंगनी खाद, पीले वर्ण का सल्फर, श्वेत वर्ण का सुपरफासफेट, हरे वर्ण का पत्तियों का खाद वनस्पति का आहार बनकर विविध वर्ण, गंध, रस, स्पर्श में परिणत होता है। पौधे इसी से पुष्ट तथा तुष्ट होते हैं।

वर्तमान में प्रायः सभी नगरपालिकाएं मनुष्य के मल का खाद बनाती हैं और वह दुर्गंधित खाद पौधों को दिया जाता है तो वही खाद खरबूजे के पौधे के तने में कठोर व रूक्ष स्पर्श में, फूलों में विविध वर्णों में, फलों में खट्टे, मीठे, कड़वे आदि विविध रसों में रूपान्तरित हो जाता है। तात्पर्य यह है कि वनस्पति में आहार के पुद्‌गलों को विविध वर्ण, गंध, रस व स्पर्श में परिणमन करने की विलक्षण शक्ति है।

इसी प्रसंग में श्रीगौतम स्वामी भ. महावीर से पूछते हैं—

कम्हा णं भंते ! वणस्सइकाइया आहारेंति कम्हा परिणामेंति ? गोयमा ! मूला मूलजीवफुडा, पुढवीजीवपडिबद्धा तम्हा आहारेंति, तम्हा परिणामेंति, कंदा कंदजीवफुडा मूलजीवपडिबद्धा तम्हा आहारेंति, तम्हा परिणामेंति एवं जाव बीया जीवफुडा फलजीवपडिबद्धा तम्हा आहारेंति तम्हा परिणामेंति।—भगवती शतक ७ उ. ३ सू. ३

हे भगवन् ! वनस्पतिकायिक जीव कैसे आहार करते हैं ? तथा किये हुए आहार को किस प्रकार परिणमन करते हैं ? भगवान् का कथन है—गौतम ! मूल को मूल जीव स्पर्श हुए हैं, परन्तु वे पृथ्वीजीव से प्रतिबद्ध हैं इसलिए मूल (जड़) के जीव पृथ्वीकाय का आहार करते हैं और उसे शरीर में परिणमाते हैं। इसी प्रकार आहार में से

कुछ आहार कन्द के जीव आकर्षित करते हैं। कन्द में से स्कन्ध (तना) के जीव, स्कन्ध में से शाखा के जीव, शाखा में से प्रतिशाखा के जीव, प्रतिशाखा में से पत्ते और फूल, फूल में से फल और फल में से बीज के जीव आकर्षित करते हैं और शरीर में परिणमाते हैं।[1]

वनस्पति की आहार ग्रहण करने व उसका परिणमन करने की आगम में प्रतिपादित उपर्युक्त प्रक्रिया का उद्घाटन वर्तमान में विज्ञान के प्रयोगों ने कर दिया है। वनस्पति के आहारग्रहण का विवेचन आधुनिक वनस्पतिविज्ञानवेत्ता इस प्रकार करते हैं—

"मूल रोम मिट्टी के कणों से चिपटे रहते हैं और उन कणों में मौजूद खनिज पदार्थों के पतले विलयन के सम्पर्क में आते हैं। खनिजों का विलयन अन्तःरसाकर्षण द्वारा मूल रोमों के भीतर पहुँचता है। मूल रोमों की कोशिकाओं में पदार्थों के गाढ़े विलयन सदा मौजूद रहते हैं। इन कोशिकाओं के बाहर मिट्टी के खनिज पदार्थों के बहुत पतले विलयन (घोल) रहते हैं। कोशिकाओं की दीवालें अर्धप्रवेश्य झिल्लियों का कार्य करती हैं। अन्दर का गाढ़ा विलयन बाहर के पतले विलयन को रसाकर्षण के नियमानुसार अपनी ओर खींचता है जो अंतः रसाकर्षण द्वारा कोशिकाओं के भीतर पहुँचता है। मूल रोमों की कोशिकाओं में इस पतले विलयन में पहुँच जाने से वहां का विलयन थोड़ा पतला हो जाता है। इसके पास ही अन्दर की कोशिका विलयन इसकी अपेक्षा गाढ़ा रहता है। अतः मूल रोम से पानी और पतला विलयन अन्दर की कोशिका में रसाकर्षण द्वारा चला जाता है। अब इस अन्दर की कोशिका का विलयन इसके पास ही अन्दर की दूसरी कोशिका के विलयन से पतला हो जाता है और फलस्वरूप यह विलयन अन्दरवाली दूसरी कोशिका में चला जाता है। इस प्रकार कोर्टेक्स की एक कोशिका से दूसरी कोशिका में रसाकर्षण

---

१ आचार्यश्री अमोलक ऋषिजीकृत अनुवाद पृ ८६८

द्वारा पानी और पतला विलयन पहुँचता जाता है और अन्त में जाइलम नलियों में पहुँचता है। इन नलियों द्वारा फिर यह ऊपर तने और पत्तियों में पहुँचता है। इस प्रकार कोशिकाओं के अन्दर, बाहर का पानी तथा खनिज पदार्थों का पतला विलयन रसावर्षण क्रिया द्वारा पहुँचकर तुरन्त तने की ओर आगे बढ़ता जाता है और शाखा, प्रशाखा और फूल में होता हुआ फल तक पहुँचता है।"[1]

उपर्युक्त कथन का तुलनात्मक अध्ययन यह सिद्ध करता है कि वनस्पति के आहार की क्रिया व परिणमन विषयक विवेचन में वर्तमान वनस्पतिविज्ञान व आगमनिरूपित कथन में पूर्ण साम्य है।

वनस्पति के खाद्य पदार्थों का वर्णन आगम में इस प्रकार है—

"ते णं भन्ते ! जीवा किमाहरमाहारेंति ? गोयमा ! दव्वओ णं अणंतपदेसियाइं दव्वाइं एवं जहा पन्नवणाए पढमे आहारुद्देसए जाव-सव्वप्पणयाए आहारमाहारेंति। ते णं भन्ते ! जीवा जमाहारमाहारेंति तं चिज्जंति, जं नो आहारेंति तं नो चिज्जंति, चिन्ने वा से उद्दाइ पलिसप्पति वा ? हंता गोयमा ! ते णं जीवा जमाहारेंति तं चिज्जंति जं नो जाव-पलिसप्पति वा।

—भगवती शतक १६, उ. ३, सूत्र ७-८

हे भगवन् ! वे (पृथ्वी, जल व वनस्पतिकायिक) जीव कैसा आहार करते हैं ?

हे गौतम ! वे द्रव्य से अनन्त प्रदेशवाले पुद्गलों का आहार करते हैं। विशेष वर्णन पन्नवणा के प्रथम आहार उद्देशक के अनुसार समझना यावत् सर्व आत्मप्रदेशों द्वारा आहार ग्रहण करते हैं।

फिर गौतम स्वामी पूछते हैं—हे भगवन् ! क्या ये जीव जो

---

१ प्रा. जीवविज्ञान।

आहार ग्रहण करते हैं उसका 'चय' होता है, जिन पदार्थों का वे आहार नहीं करते हैं क्या उनका चय नहीं होता है ? तथा जिन आहारों का चय होता है, क्या उनका असारभाग बाहर निकलता है और सारभाग शरीर-इन्द्रिय रूप परिणमता है ? भगवान फरमाते हैं—हे गौतम ! हां, वे जीव जिन पदार्थों का आहार करते हैं, उनका 'चय' करते हैं, जिन पदार्थों का आहार नहीं करते हैं उनका चय नहीं करते हैं तथा जिन आहारों का चय किया है उसका सार भाग शरीर-इन्द्रिय रूप परिणमता है और असार भाग का नीहार या विसर्जन हो जाता है।[1]

यहां सूत्र में आया 'चिज्जंति' शब्द विशेष उल्लेखनीय है। 'चिज्जंति' शब्द चय अर्थ का द्योतक है। चय का अभिप्राय है अभीष्ट पदार्थों को चुनकर संचय करना। इस सूत्र का तात्पर्य यह है कि वनस्पति अपने संसर्ग में आए सभी पदार्थों को भोजन रूप में ग्रहण नहीं करती है अपितु उनमें से आहार योग्य पदार्थों का ही चयन कर उनका ग्रहण या संचय करती है। आहार के अयोग्य पदार्थों का चयन या संचय नहीं करती है—उन्हें छोड़ देती है। वनस्पति की इस विलक्षण चयशक्ति को वनस्पति विशेषज्ञ भी स्वीकार करते हैं। उन्होने प्रयोग द्वारा सिद्ध किया कि यदि मिट्टी में सोडियम और पोटाशियम दोनों ही पदार्थ सममात्रा में मिले हों तब भी वनस्पति सोडियम की अपेक्षा अपने रुचिकर भोज्य पदार्थ पोटाशियम का ही अधिक संचय करती है।

आगम के उपर्युक्त कथन में से यह पहले दिखाया जा चुका है कि वनस्पति विविध द्रव्यों के स्कंधों का आहार करती है। उस आहार का सार भाग शरीर रूप परिणमता है तथा शेष रहा हुआ

---

१ भगवती सूत्र खण्ड ४, पृ, ८१ (पं बेचरदासजी के अर्थ का हिन्दी अनुवाद)

निस्सार भाग दूषित मल के रूप में शरीर से बाहर निकलता है। मलविसर्जन की यह क्रिया वनस्पति में उत्स्वेदन के रूप में होती है। इसके विषय में कहा है—"जिस प्रकार लोग अपने शरीर से पसीने के रूप में पानी निकालते हैं, उसी प्रकार पत्तियों की सतह से पानी वाष्प बनकर उड़ा करता है। वृक्ष जड़ों द्वारा मिट्टी से पानी सोखते हैं और जाइलम नलियों द्वारा उसे पत्तियों की सतह तक पहुंचाते हैं। जहां से वह वाष्प बनकर उड़ जाता है।"[1] तात्पर्य यह है कि आज जीव-विज्ञान ने आगम-प्ररूपित इस सिद्धान्त का पूर्ण समर्थन कर दिया है कि वनस्पति आहार करती है, उसे शरीर रूप में परिणमित करती है तथा उसमें से शेष रहे वर्ज्य पदार्थ मल का विसर्जन या नीहार करती है।

वनस्पति किस ऋतु में अधिक और किस ऋतु में कम आहार करती है, आगम में इसका विवेचन इस प्रकार आया है—

वणस्सइकाइयाणं भंते ! किं कालं सव्वप्पाहारगा वा, सव्व-महाहारगा व भवंति ? गोयमा ! पाउस-वरिसारत्तेसु णं एत्थ णं वणस्सइकाइया सव्वमहाहारगा भवंति, तयाणंतरं च णं सरए, तयाणंतरं च णं हेमंते, तयाणंतरं च णं वसंते, तयाणंतरं च णं गिम्हासु णं वणस्सइकाइया सव्वप्पाहारगा भवंति।

—भगवती शतक ७ उ. ३ सूत्र १

हे भगवन् ! वनस्पति किस समय अधिकतम आहार करती है और किस समय अल्पतम आहार करती है ? भगवान् फरमाते हैं—हे गौतम ! पावस व वर्षा ऋतु में वनस्पतिकायिक जीव सबसे अधिक आहार करते हैं। तदनन्तर अनुक्रम से शरद, हेमन्त, वसन्त व ग्रीष्म ऋतु में अल्प से अल्पतर आहार करते हैं।

आधुनिक वनस्पतिविज्ञानवेत्ताओं का कथन है कि वर्षा ऋतु में

---

१ प्रा. जीव विज्ञान

जल की अधिकता से वनस्पति के खाद्य पदार्थों में घोल व विलयन अधिक होता है और जड़ों द्वारा आहार ग्रहण की अधिक मात्रा विलयन की सुलभता पर निर्भर करती है। अतः आहार के विलयन की अनुकूलता व सुलभता होने से वर्षा ऋतु में वनस्पति अन्य ऋतुओं की अपेक्षा अधिक आहार करती है तथा ग्रीष्म ऋतु में जल की अत्यधिक कमी होने से आहार वा घोल या विलयन अत्यल्प बनता है अतः ग्रीष्म ऋतु में वनस्पति अत्यल्प आहार करती है।

आगम के उपर्युक्त तथ्य को स्वीकार करने पर सहज ही जो प्रश्न उठ सकता है उसे उठाते हुए गणधर गौतम श्रीमहावीर प्रभु से पूछते हैं :—"जइ णं भंते ! गिम्हासु वणस्सइकाइया सव्वप्पहारगा भवन्ति कम्हा णं भंते ! गिम्हासु बहवे वणस्सइकाइया पत्तिया, पुप्फिया, फलिया हरियगरेरिज्जमाणा सिरीए अतीव अतीव उवसोमेमाणा उवसोमेमाणा चिट्ठंति ? गोयमा ! गिम्हासु णं बहवे उसिणजोणिया जीवा य पोग्गला व वणस्सइकाइयत्ताए विउक्कमंति चयन्ति उववज्जन्ति। एवं खलु गोयमा ! गिम्हासु बहवे वणस्सइकाया पत्तिया, पुप्फिया जाव चिट्ठन्ति।"

—भगवती शतक ७ उ० ३ सू० २

हे भगवन् ! जब वनस्पतिकाय के जीव ग्रीष्म ऋतु में अत्यल्प आहार करते हैं तब फिर क्या कारण है कि ग्रीष्म ऋतु में बहुत सी वनस्पतियां अधिक फलती, फूलती व हरीतिमा को प्राप्त होकर अपनी शोभा को बढ़ाती हैं ? हे गौतम ! ग्रीष्म ऋतु में (गर्मी की अनुकूलता के कारण) बहुत से उष्णयोनिभूत जीव व पुद्गल वनस्पतिकाय रूप उपजते हैं, अधिकता से उपजते हैं, विशेष रूप से बढ़ते हैं, इसी कारण से ग्रीष्म ऋतु में बहुत से वनस्पतिकायिक पत्र, पुष्प आदि हरीतिमायुक्त होते हैं।"[1]

---

१ भगवती सूत्र तृतीय खंड, पृ १२ (पं. बेचरदासजी कृत अनुवाद का हिन्दी रूपांतर)

आगम के इस पूर्वोक्त कथन की पुष्टि वनस्पति-विज्ञान-विशेषज्ञों द्वारा वनस्पति के आहार-संग्रह, प्रजनन आदि पर किए गए प्रयोगों से प्राप्त परिणामों से होती है। इन विशेषज्ञों का कथन है कि जब वर्षा-काल में आहार के विलयन की सुविधाओं की सुलभता अधिक होती है तब पौधे खूब ठूंस-ठूंस कर आहार ही नहीं करते अपितु भरते भी हैं। उसमें से जितना आहार पौधों की वर्तमान आवश्यकता से अधिक होता है वह उनकी जड़ों, कन्दों व स्कन्धों में जमा हो जाता है तथा वसन्त व ग्रीष्म ऋतु में तापमान की वृद्धि से उत्पन्न उष्णता की समीचीनता से पौधों में सर्जन व प्रजनन शक्ति सक्रिय हो जाती है जिससे पौधे फलते-फूलते व हरीतिमा को प्राप्त होते हैं। उस समय उसी पूर्वसंचित आहार से पौधों को पोषण प्राप्त होता है। परिणाम-स्वरूप पौधे के अन्य अंग तो फलते-फूलते व हरे-भरे होते हैं परन्तु जड़, कन्द, स्कंध पूर्व की अपेक्षा अधिक दुबले-पतले हो जाते हैं। इसका कारण पौधे की जड़, कन्द आदि में संचित आहार के पुद्गलों का उष्णता व प्रजनन क्रिया के कारण विक्रमण[1] अर्थात् चलायमान होकर पौधे के अन्य अंगों के पोषण-रूप में परिणत होना ही है।

तात्पर्य यह है कि जैन आगम के इस कथन का वर्तमान विज्ञान पूर्ण समर्थन करता है कि ग्रीष्म ऋतु में पौधों के अधिक फलने-फूलने व हरीतिमा से अपनी शोभा बढ़ाने का कारण उष्णता से पुद्गलों का चलायमान होना व प्रजनन शक्ति का सक्रिय होना है!

इसी प्रसंग में प्रश्न उपस्थित होता है कि वनस्पतिकायिक जीव अपना आहार किस ढंग से करते हैं? इस विषय में निम्नांकित कथन द्रष्टव्य है—

भन्ते! किं आदिं आहारेंति मज्झे आहारेन्ति पज्जवसाणे आहा-

---

१ मुनिश्री अमोलकऋषिजी ने विक्रमण का अर्थ चलायमान होना लिया है, यह अधिक उपयुक्त लगता है।

रेंति ? गोयमा ! आदिपि आहारेंति मज्झेवि आहारेंति पज्जवसाणे वि आहारेंति । —जीवाभिगम प्रथम प्रतिपत्ति

हे भगवन् ! वनस्पतिकायिक जीव क्या आदि से आहार करते हैं ? क्या मध्य से आहार करते हैं ? क्या पर्यवसान से आहार करते हैं ? भगवान् का कथन है—हे गौतम ! वनस्पतिकायिक जीव आदि (जड़ कन्द) से आहार करते हैं, मध्य (तना, शाखा, प्रशाखा आदि) से आहार करते हैं तथा अन्त (फूल-पत्ते आदि) से आहार करते हैं ।

इसी प्रसंग में ऊपर कहा गया है कि वनस्पति "सव्वप्पणायाए आहारमाहारेंति" अर्थात् सब प्रदेशों में आहार करती है । इससे यह फलित होता है कि आगमकार, वनस्पतिकायिक जीवों द्वारा जड़, कन्द, स्कन्ध, शाखा, प्रशाखा, फूल, पत्ते आदि सारे शरीर से आहार करना मानते हैं ।

वनस्पतिविज्ञान में भी इसका स्पष्ट व विस्तृत विवेचन है कि वनस्पति अपने सारे शरीर से आहार करती है । वनस्पति अपने मूल रोमों द्वारा खनिज पदार्थों के विलयन व जल आदि तरल पदार्थों का आहार करती है । स्कन्ध, शाखा, प्रशाखा, पत्तों आदि अन्य अंगों के पर्णशाद द्वारा वह प्रकाश में बाहरी वातावरण से कार्बन-डाई-आक्साइड आदि अन्य गैसों का आहार करती है । वनस्पति द्वारा प्रत्येक अंग से आहार लेने की प्रक्रिया का वनस्पति-शास्त्र में विस्तार से वर्णन है । तात्पर्य यह है कि वनस्पति अपने सब अंगों से, सारे शरीर से आहार करती है । यह बात वनस्पतिविज्ञान में खोज का विषय न रहकर सिद्धान्ततः स्वीकार कर ली गई है ।

जैन-शास्त्रों में सामान्यतः आहार तीन प्रकार के कहे गये हैं, यथा—(१) प्रक्षेपाहार, (२) रोमाहार और (३) ओजाहार । इनकी व्याख्या इस प्रकार की गई है—

सरीरेणोयाहारो, तयाइ फासेण लोम आहारो ।
पक्खेवाहारो पुण कवलिओ होइ नायव्वो ।।
—चतुर्थ कर्मग्रंथ, गा० टी० ७ (भा० पृ० १०४)

अर्थात् शरीर द्वारा लिया जाने वाला आहार ओजाहार है। त्वचा के रोमों के द्वारा स्पर्शपूर्वक लिया जाने वाला आहार रोमाहार है तथा कवल (ग्रास) रूप में मुख द्वारा लिया जाने वाला आहार प्रक्षेपाहार है ।[1] इनमें से वनस्पति में दो आहार-ओजाहार और रोमाहार ही माने गये हैं ।[2] आधुनिक विज्ञान भी वनस्पति में दो प्रकार की आहारक्रिया मानता है— ऐसीमिलेशन और आसमोसिस । एसीमिलेशन की ओजाहार से और आसमोसिस की रोमाहार से तुलना की जा सकती है । वनस्पतिविज्ञान में आहार की इन दोनों क्रियाओं पर हजारों ग्रंथ लिखे हुए हैं । इन क्रियाओं को संक्षेप में इस प्रकार समझा जा सकता है—

ओजाहार—आहार की इस क्रिया में पौधे अपनी पत्तियों, शाखाओं आदि शरीर के समस्त हरे भाग (पर्णशाद) द्वारा वायुमण्डल में से कार्बनडाई-आक्साइड आदि गैसों को सोखते हैं । फिर वे शोषित पदार्थ स्टोमटा द्वारा जड़ों से आये भोजन के जलीय भाग में घुल जाते हैं । तदनन्तर प्रकाश-संश्लेषण क्रिया द्वारा इसमें रासायनिक प्रक्रिया होती है जिससे शक्कर बनती है । इसी शक्कर का कुछ भाग स्टार्च में व कुछ भाग कार्बोहाइड्रेट में बदल जाता है व कुछ भाग प्रोटीन बनता है ।

रोमाहार—आहार की इस क्रिया में पौधे मूल (जड़) रोमों

---

१ भगवती सूत्र प्रथम खंड, पृ. ६४ (पं. बेचरदासजी कृत अनुवाद का हिन्दी रूपांतर)

२ देखिये—पन्नवणा पद २८ उ. १

द्वारा जमीन से जल तथा सोडियम, फासफोरिस एसिड, पोटास आदि खनिज पदार्थों का घोल सोखते हैं। वह घोल जाइलम नलियों द्वारा तने की तरफ जाता है जहां वह पौधे के द्वारा ओजाहार के रूप में लिये गये कार्बन-डाई-आक्साइड आदि पदार्थों से मिलता है। फिर इन दोनों आहार की प्रक्रियाओं द्वारा तैयार हुए पदार्थों का मिश्रण रासायनिक प्रक्रिया द्वारा स्टार्च, प्रोटीन आदि भोज्य सामग्री का रूप ले लेता है। यही भोज्य-सामग्री वनस्पति का पोषण व संवर्धन करती है। इस प्रकार वनस्पति रोमाहार और ओजाहार इन दोनों ही क्रियाओं से भोजन-सामग्री जुटाकर अपना जीवन-संचालन करती है।

आगम में भोज्य पदार्थों का वर्गीकरण करते हुए कहा है—

उरालियसरीरा जाव मणुस्सा सचित्ताहाराविं अचित्ताहाराविं, मीसाहाराविं। —पन्नवणा पद २८ उ. १ सूत्र २

औदारिक शरीर वाले मनुष्य पर्यंत जीव सचित्त, अचित्त और मिश्र, तीनों प्रकार का आहार करते हैं। इससे स्पष्ट है कि औदारिक शरीरधारी वनस्पति भी उक्त तीनों प्रकार का आहार करती है। पौधे जड़ों द्वारा फास्फोरस, कैलसियम, सोडियम आदि निर्जीव खनिज पदार्थों का आहार लेते हैं, यह अचित आहार है। मिश्र आहार अचित (निर्जीव) और सचित्त (सजीव) इन दोनों पदार्थों के मिश्रण से बना होता है। जड़ द्वारा लिए जाने वाले घले विलयन प्रायः मिश्र आहार ही होते हैं। वनस्पति द्वारा किए जाने वाला दुग्धाहार भी इसी श्रेणी का है। वनस्पति विशेषज्ञों का कथन है कि "जिस प्रकार गाय, भैंस, बकरी आदि के दूध का आहार लेने से मनुष्य के शरीर का पोषण होता है, इसी प्रकार वनस्पतियों में भी दूध से पोषण होता है। नारियल का दूध पेड़ों में वही काम करता है जो साधारण दूध पशु शावकों के लिए करता है। जिस प्रकार शावक

के शरीर में जाकर दूध मांसपेशियों में परिवर्तित हो जाता है, ठीक उसी प्रकार यह दूध पौधों में जाकर काष्ठ आदि में परिवर्तित हो जाता है और उनके ठोस भाग का पोषण और वर्द्धन करता है।[1] अमेरिका के कार्नेल विश्वविद्यालय के कृषिविभाग ने इस पर विशेष प्रयोग किए हैं। नारियल का दूध गाजर के पौधों को दिया गया। फलस्वरूप वे कद में बीसों गुने अधिक बढ़ गये। अन्य पौधे भी औसत से अधिक ऊंचे हुए। जंगली चेस्टवर, अंग्रेजी अखरोट, मेवे आदि के दूधों के प्रयोगों का प्रभाव भी आश्चर्यजनक देखा गया। इन दूधों से पौधों का विकास बड़ी शीघ्रता से होता है।"[2]

सजीव प्राणियों का आहार सचित्ताहार कहा जाता है। इस विषय पर प्रकाश डालते हुए आगम में कहा है—

गोयमा ! पुव्वभावपण्णवणं पडुच्च णियमा एगिंदियसरीराइं आहारेंति। —पन्नवणा पद २८ उ० १

भगवान् का कथन है—गौतम ! पृथ्वी, पानी आदि स्थावरकायिक जीव पूर्वभाव की अपेक्षा अर्थात् आहार रूप परिणत होने के पूर्व की अपेक्षा एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक का आहार करते हैं और वर्तमान की अपेक्षा अर्थात् पुद्गलों के आहार रूप परिणत होने की अपेक्षा एकेन्द्रिय का आहार करते हैं। दूसरे शब्दों में स्थावरकाय वनस्पति भी एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय एवं पंचेन्द्रिय जीवों का आहार करती है।

एकेन्द्रिय के पांच भेद हैं—पृथ्वी, पानी, पावक, पवन, वनस्पति। वनस्पति अपनी जड़ों से सजीव पृथ्वी व पानी का, पत्तों, शाखाओं आदि से उष्मा व वायु का आहार लेती है। यही नहीं वनस्पति वनस्पति का भी आहार करती हैं। ऐसी वनस्पतियां परोपजीवी

---

१ नवनीत अगस्त १९५७, पृ ५२

२ नवनीत अप्रैल १९६२, पृ. ७५

(Parasites) वनस्पतियाँ कहलाती हैं। ये दो प्रकार की होती हैं, पूर्ण-पराश्रयी व अर्ध-पराश्रयी। पूर्ण-पराश्रयी वनस्पति वह है जो अन्य पौधों पर उगती है और अपना पूरा का पूरा भोजन उन वनस्पतियों से ही ग्रहण करती हैं। ये जिन वृक्षों पर उगती हैं उनमें अपनी पतली जड़ें घुसा देती हैं और उनका शोषण कर अपना भोजन बनाती हैं। अमरबेल ऐसी ही पूर्ण-पराश्रयी वनस्पति है। अर्द्ध-पराश्रयी वनस्पतियां वे हैं जो उगती तो दूसरे वृक्षों पर हैं परन्तु ये कुछ भोजन तो अपनी पत्तियों द्वारा हवा में से लेती हैं और कुछ भोजन उन वृक्षों से लेती हैं जिन पर ये उगती हैं। चंदन, विसकम, बादा लोरेनथस, मिसटेलेटस आदि अर्धपराश्रयी वनस्पतियां हैं।

यह तो हुआ वनस्पति द्वारा किया जाने वाला एकेन्द्रिय-आहार का रूप। इसके अतिरिक्त वनस्पतियां द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय जीवों का आहार भी करती हैं। दूसरे शब्दों में कहें तो वनस्पतियां हलते-चलते जीव-जन्तुओं, कीट-पतंगों, पशु-पक्षियों व मानवों का आहार भी करती हैं। वनस्पति-विज्ञान में ऐसी वनस्पतियों को मांसाहारी वनस्पतियां कहा गया है। इनके विस्तृत वर्णन से वनस्पति-शास्त्र भरे पड़े हैं।

मांसाहारी-वनस्पतियां—इनके सर्वाधिक जंगल आस्ट्रेलिया में हैं। इन जंगलों को पार करते हुए मनुष्य इन विचित्र वृक्षों को देखने के लिए जैसे ही इनके पास जाते है, इन वृक्षों की डालियां और जटाएं इन्हें अपनी लपेट में जकड़ लेती हैं जिनसे छुटकारा पाना सहज कार्य नहीं है। फलतः मनुष्य रोता, चिल्लाता, पुकारता है और अंत में दम तोड़ देता है।

तस्मानिया के पश्चिमी वनों में 'होरिजिंटल स्क्रव' नामक वृक्ष होता है। यह आगन्तुक पशु-पक्षी व मनुष्य को अपने क्रूर पंजों का शिकार बना लेता है। यहां तक कि यदि कोई घुड़सवार भी इसके

पास से गुजरे तो यह उसे भी अपना आहार बना लेता है।[1]

कीट-भक्षी-पौधे—ये पौधे कीड़े-मकोड़े पकड़ कर खाते हैं। युट्रीकुलेरियड (Utricularied) इसी जाति का पौधा है। यह उत्तरी अमरीका, आस्ट्रेलिया, दक्षिणी अफ्रीका, न्यूजीलैंड तथा कुछ अन्य देशों में पाया जाता है। यह हमारे यहां भी मिलता है। यह पानी का पौधा है और स्थिर पानी में उगता है। इसकी पत्तियां सुई के आकार की होती हैं और पानी पर तैरा करती हैं। पत्तियों के बीच में छोटे-छोटे हरे रंग के गुब्बारे के आकार के फूले अंग रहते हैं। पौधा इन्हीं गुब्बारों से कीड़ों को पकड़ता है। प्रत्येक गुब्बारा पानी से भरा रहता है और उसके मुँह पर एक छोटा-सा छेद रहता है। इस छेद पर एक कपाट रहता है जो केवल अंदर की ओर ही खुलता है। कपाट पर बाहर की ओर महीन बाल होते हैं। ये बाल सचेतन होते हैं और इनमें हमारी त्वचा की भांति स्पर्श अनुभव करने की शक्ति होती है। जब कोई कीड़ा पानी में तैरता-तैरता गुब्बारे के पास पहुंचता है और कपाट के बालों को छूता है तो तुरन्त कपाट अन्दर की ओर खुल जाता है जिससे कीड़ा गुब्बारे के भीतर गिर जाता है। कीड़े के भीतर पड़ते-पड़ते ही कपाट फिर ऊपर उठकर गुब्बारे का मुंह बन्द कर देता है। इस प्रकार बेचारा कीड़ा गुब्बारे में बन्द हो जाता है। गुब्बारे के भीतर दीवारों से एक रस निकलता है जो कीड़े के मांस को घुला देता है। इस घोल को गुब्बारे के भीतर की दीवारों के रोए चूस लेते हैं।[2]

"बटर-वार्ट पौधा भी कीड़ों को पकड़ने व खाने की कला में बड़ा प्रवीण होता है। बटरवार्ट फूल बहुत सुन्दर होते हैं और इसके सम्पर्क में आने वाला बेचारा कीट यह कल्पना भी नहीं कर पाता

---

१ नवनीत जुलाई १९६६
२ प्रा. जीवविज्ञान भाग २, पृ. २१

कि इतने रंग-बिरंगे सुन्दर फूलों वाला यह पौधा प्राणघातक भी हो सकता है। इस पौधे का पत्ता पूर्ण रूप से विषैला होता है। उस पर एक चिपचिपा लेप रहता है। यह लेप स्वाद में मीठा होता है। परन्तु यह मीठा रस ही कीटों के लिए मारक विष है। जब कीड़ा इसके रंग-बिरंगे सुन्दर फूलों से आकृष्ट हो इसके पत्ते के पास आता है और पत्ते को छू जाता है तो वह चिपचिपा पदार्थ उन पैरों को मजबूती से पकड़ व जकड़ लेता है। फिर ज्यों-ज्यों कीड़ा अपने को छुड़ाने का प्रयत्न करता है त्यों-त्यों पत्ता ऊपर और अन्दर की ओर मुड़ता जाता है और कीड़ा एक जीवित समाधि में बन्द हो जाता है। फिर पौधा उसे अन्दर पचा लेता है।[1]

मानव-भक्षी वृक्ष—"अफ्रीका महाद्वीप तथा मेडागास्कर द्वीप के सघन जंगलों में कहीं-कहीं मानवभक्षी वृक्ष मिलते हैं, जो मनुष्यों और जंगली जानवरों को अपना शिकार बनाते हैं। कहा जाता है कि एक मनुष्य-भक्षी वृक्ष की ऊँचाई 25 फुट तक होती है। इस विशाल और भयानक लगने वाले वृक्ष की अनेक शाखाओं के अग्र भाग में थाली के आकार के बड़े फूल लगे रहते हैं। ये शाखाएं 1-2 फुट लम्बे कांटों से भरी रहती हैं।

जब भी अंधेरे में कोई जानवर या मनुष्य असावधान होकर उस वृक्ष के पास से गुजरता है तब वृक्ष की कांटेदार शाखाएं निर्जीव शरीर को चारों ओर से घेर लेती हैं। कांटे शरीर में घुसकर खून चूस लेते हैं और बाहर निकल जाते हैं। तब वृक्ष की शाखाएं निर्जीव शरीर को छोड़ देती हैं। शिकार का खून चूस लेने पर फूलों का आकार बढ़ जाता है, किन्तु कई दिनों बाद वे फिर असली हालत में आजाते हैं। इस प्रकार वृक्ष के नीचे कंकालों का ढेर लग जाता है। कुछ वर्षों पूर्व साइकिल के द्वारा विश्व-भ्रमण करने वाले श्री

---

१ नवनीत मई ६२ पृ. ८२

मिश्रीलाल जायसवाल ने युगाण्डा के भयानक जंगल में मनुष्य-भक्षी वृक्ष की शाखाओं में फंसे हुए एक बारहसिंघे को स्वयं अपनी आंखों से देखा था।"[1]

रैन हैटट्रम्पट, नेपन्थीज, जीन्सलापोटिया, वीनसफ्लाई टैप, ड्रासरा, पिचर प्लान्ट आदि अन्य मांसाहारी पौधे भी कीड़ों का शिकार करने व उन्हें पकड़ने में बड़े निष्णात होते हैं।

तात्पर्य यह है कि आज से ढाई हजार वर्ष पूर्व जिस काल में विश्व के अन्य दार्शनिक व विचारक वनस्पति को सजीव मानने में ही ननु-नच करते थे उस काल में जैनदर्शन ने वनस्पति को न केवल असंदिग्ध रूप से सजीव ही स्वीकार किया अपितु इस पर पचासों दृष्टियों से प्रकाश भी डाला। इनमें से एक दृष्टि आहार के प्रकार व पदार्थों पर भी डाली गई। इसमें वनस्पति द्वारा आहार-ग्रहण क्रिया, आहार-परिणमन-प्रक्रिया, नीहार, ओजाहार-रोमाहार तथा वनस्पति के एकेन्द्रिय होने पर भी पंचेन्द्रिय जीवों तक का भोजन करना आदि के निरूपक सूत्र सर्वथा मौलिक व निराले ही थे। ये सूत्र विज्ञान के विकास के पूर्व विद्वानों को आश्चर्यजनक व कल्पनाप्रसूत लगते थे। परन्तु आज ये ही सूत्र विज्ञान जगत् में प्रयोगों से परिपुष्ट व प्रत्यक्ष प्रमाणित होकर आगमप्रणेताओं के अतीन्द्रिय ज्ञानी होने की उद्घोषणा कर रहे हैं।

भय संज्ञा—भय दो रूपों में व्यक्त होता है—(१) आगत आपत्ति से भयभीत होना, डरना, कांपना, रोमों का खड़ा होना आदि (२) आपत्ति से बचने के लिए सुरक्षा का प्रबन्ध करना। सुरक्षा की भावना का उद्गमस्थल भय ही है।

वनस्पति में 'भय' के दोनों ही रूप स्पष्ट अभिव्यक्त होते हैं।

---

१ साप्ताहिक हिन्दुस्तान १७ जून १९७२, पृ. २२

जिस प्रकार मनुष्य आपत्ति या प्रतिकूल परिस्थिति आते ही भयभीत हो जाता है और उसके निवारण या प्रतिरोध के लिए सुरक्षात्मक प्रयत्न करता है, उसी प्रकार वनस्पतियां भी आपत्ति आते ही भय-भीत हो जाती हैं और रक्षात्मक प्रयत्न करती हैं। श्री जगदीशचन्द्र वसु ने यंत्रों की सहायता से स्पष्ट दिखाया कि वनस्पति के अंग पर प्रहार होते ही या संहार का खतरा उपस्थित होते ही वह थर-थर कांपने लगती है—उसके रोएं खड़े हो जाते हैं। छुई-मुई वनस्पति पर तो भय का प्रभाव बिना यंत्रों के भी देखा जा सकता है। उसके किसी अंग को अंगुली छू जाय तो वह भयभीत हो जाती है और रक्षा के लिए सारे शरीर की पत्तियों को सिकोड़ कर अपने सब अंग ढक लेती है। कश्मीर में 'जवागल' नामक वनस्पति होती है। हथेली पर रखते ही यह ज्वर-पीड़ित मनुष्य की तरह कांपने लगती है।

जिस प्रकार मनुष्य अपने शत्रुओं से बचने के लिए विविध उपाय काम में लेता है, ठीक उसी प्रकार पौधे भी अपने शत्रुओं से बचने के लिए विविध उपाय काम में लेते है। बिच्छू जाति का पौधा अपनी रक्षा पत्तियों के रोओं से करता है। इन पौधों को छूने व खतरा पहुंचाने वाले व्यक्ति की खाल में ये रोएं चुभकर एक प्रकार का विष फेंकते है जो जलन पैदा करता है। उससे असह्य पीड़ा होती है। फलतः व्यक्ति उसे छोड़ देता है और पौधा खतरे से छुटकारा पा जाता है।[1] चमचमी नामक वनस्पति को—जो प्रायः तालाब के किनारे पैदा होती है—छूने से छूने वाले व्यक्ति के सारे शरीर में खुजली चलने लगती है अतः व्यक्ति इससे दूर ही रहते हैं और यह भी खतरे से परे रहती है। 'काक-तुरई' अपनी रक्षा दुर्गन्ध से करती है। इसे छू लेने से बहुत समय तक हाथ से दुर्गन्ध नहीं जाती है। इसलिए इसे छूना कोई पसन्द नहीं करता हैं। हाथी थूहर के कांटे तो इतने तीक्ष्ण होते

---

१ नवनीत जुलाई ५७, पृ. ५७

हैं कि स्पर्श मात्र से ही ऐसा अनुभव होता है मानो किसी ने सूइयां चुभोई हों, साथ ही जलन भी इतनी पैदा करते हैं कि मनुष्य की तो क्या बात, पशु भी उसके निकट जाने का साहस नहीं कर पाते हैं।

आक का पौधा अपनी रक्षा चिकनाई से करता है। यह चिकनाई एक लेसदार द्रव की होती है और सारे पौधे पर छाई रहती है। हानिकारक कीड़े जब पौधे पर चढ़ते हैं तो उनके पांव तनेपर छाई कोमल-सी चिकनी तह में फंस जाते हैं। इस संकट से मुक्ति पाने के लिए ये कीड़े पौधे को हानि पहुंचाये बिना ही रफूचक्कर हो जाते हैं।[1]

विषैली गैस द्वारा अपनी रक्षा करने वाला पौधा है "उपस"। यह जावा के भीतरी भागों में घने जंगलों में झाड़ियों की जाति के कंटीले पौधों के रूप में मिलता है। वनस्पति-शास्त्र में इसे 'एंटियारिस-टोविसकारिया' कहा जाता है। इसमें से कपूर जैसा लेसदार द्रव निकलता है जो पोटेसियम साइनाइड के समान अत्यंत विषैला होता है। यह जहरीली गैस भी छोड़ता है जिससे चारों ओर का वायुमंडल विषाक्त हो जाता है। इसका दुष्प्रभाव पन्द्रह मील तक पड़ता है। मनुष्य इसे दूर से ही नमस्कार कर निकल जाते हैं। इन पेड़ों के विषाक्त प्रभाव से इनके आस-पास पशु-पक्षियों के शवों के ढेर व हड्डियोंके टीले से लगे रहते हैं। इस प्रकार ये पौधे अपने विषाक्त रस या गन्ध से अपनी रक्षा करते हैं। सलीबीज और मालवा के घने जंगलों में व बोटानिकल-गार्डन में आज भी ऐसे वृक्ष मिलते हैं।

जिस प्रकार पक्षी अपने व बच्चों की सुरक्षा की दृष्टि से अपना घोंसला झूलने वाली स्थिति में बनाते हैं, उसी प्रकार कुछ वृक्ष अपनी सुरक्षा हेतु हमेशा टीलों के कगारों में झूलने वाली स्थिति में

---

1 कादम्बिनी फरवरी, ६७, पृ. ८५

उत्पन्न होते हैं। "थानी-बरेल" ऐसे ही वृक्ष हैं। ये अर्जेन्टाइना के घने जंगलों के भीतरी भागों में पाये जाते हैं। इन्हें वहां के निवासी "यूचान" कहते हैं। इनकी आकृति बोतलाकार व आकर्षक होती है। ये अपने तने व डालियों पर भूमि की ओर मुंह किए पांच-पांच इंच के लम्बे व कठोर कांटे रखते हैं। इन कांटों की संख्या इतनी अधिक होती है कि तना व डालें पूरी तरह इनसे ढकी रहती हैं। इन्हें किसी प्रकार की हानि पहुंचाने का प्रयत्न करने वाले को इनके शूल जैसे कांटों का सामना करना होता है। ये कांटों से अपनी सुरक्षा करते हैं।

पौधे केवल अपनी रक्षा के लिए ही नहीं अपितु अपनी संतान की रक्षा के लिए भी प्रयत्न करते देखे जाते हैं। 'लिनेरिया' इसी प्रकार का पौधा है। यह पथरीली चट्टानों में उगता व पनपता है। चट्टानों के बीच कहीं छोटा सा छेद अथवा खोखली-सी जगह मिलते ही वह उसमें अपनी जड़े जमा लेता है और बाहर निकल कर चट्टान की दीवार पर अपना शरीर झुकाये स्वयं को जीवित रखता है। पर मात्र जीवित रहने से ही उसका स्वभावसिद्ध कार्य समाप्त नहीं हो जाता। अन्यान्य पौधों की भांति उसके लिए भी यह आवश्यक है कि वंश-वृद्धि करे और सीधी खड़ी पथरीली दीवार पर वंश-वृद्धि करना कोई आसान काम नहीं है। लिनेरिया अपने इस कार्य को आश्चर्यजनक ढंग से सम्पन्न करता है। इसके लिए सबसे पहले मधु-मक्खियों की बाट जोहनी पड़ती है। मधुमक्खियां इसके फूलों का पराग स्त्रीकेसर के साथ मिलाकर गर्भाधान करने में समर्थ होती हैं। मधुमक्खियों को आकृष्ट करने के लिए इसे अपने फूलों की बहार दिखलानी पड़ती है और मधुमक्खियों की प्रतीक्षा में चट्टान की दीवार से फूल कहीं सड़ न जायं, यह सोचकर लिनेरिया अपने फूलों को यथासंभव दीवार से अलग रखता है। देखा गया है कि लिनेरिया की जो शाखा दीवार से दूर होती है, उसी पर अधिकतर

हैं कि स्पर्श मात्र से ही ऐसा अनुभव होता है मानो किसी ने सूइयां चुभोई हों, साथ ही जलन भी इतनी पैदा करते हैं कि मनुष्य की तो क्या बात, पशु भी उसके निकट जाने का साहस नहीं कर पाते हैं।

आक का पौधा अपनी रक्षा चिकनाई से करता है। यह चिकनाई एक लेसदार द्रव की होती है और सारे पौधे पर छाई रहती है। हानिकारक कीड़े जब पौधे पर चढ़ते हैं तो उनके पांव तनेपर छाई कोमल-सी चिकनी तह में फंस जाते हैं। इस संकट से मुक्ति पाने के लिए ये कीड़े पौधे को हानि पहुंचाये बिना ही रफूचक्कर हो जाते हैं।[1]

विषैली गैस द्वारा अपनी रक्षा करने वाला पौधा है "उपस"। यह जावा के भीतरी भागों में घने जंगलों में झाड़ियों की जाति के कंटीले पौधों के रूप में मिलता है। वनस्पति-शास्त्र में इसे 'एंटियारिसटोक्सिकारिया' कहा जाता है। इसमें से कपूर जैसा लेसदार द्रव निकलता है जो पोटेसियम साइनाइड के समान अत्यंत विषैला होता है। यह जहरीली गैस भी छोड़ता है जिससे चारों ओर का वायुमंडल विषाक्त हो जाता है। इसका दुष्प्रभाव पन्द्रह मील तक पड़ता है। मनुष्य इसे दूर से ही नमस्कार कर निकल जाते हैं। इन पेड़ों के विषाक्त प्रभाव से इनके आस-पास पशु-पक्षियों के शवों के ढेर व हड्डियोंके टीले से लगे रहते हैं। इस प्रकार ये पौधे अपने विषाक्त रस या गन्ध से अपनी रक्षा करते हैं। सलीबीज और मालवा के घने जंगलों में व बोटानिकल-गार्डन में आज भी ऐसे वृक्ष मिलते हैं।

जिस प्रकार पक्षी अपनी व बच्चों की सुरक्षा की दृष्टि से अपना घोंसला झूलने वाली स्थिति में बनाते हैं, उसी प्रकार कुछ वृक्ष अपनी सुरक्षा हेतु हमेशा टीलों के कगारों में झूलने वाली स्थिति में

---

१ कादम्बिनी फरवरी, ६७, पृ. ८५

उत्पन्न होते हैं। "थानी-वरेल" ऐसे ही वृक्ष हैं। ये अर्जेन्टाइना के घने जंगलों के भीतरी भागों में पाये जाते हैं। इन्हें वहां के निवासी "यूचान" कहते हैं। इनकी आकृति बोतलाकार व आकर्षक होती है। ये अपने तने व डालियों पर भूमि की ओर मुंह किए पांच-पांच इंच के लम्बे व कठोर कांटे रखते हैं। इन कांटों की संख्या इतनी अधिक होती है कि तना व डालें पूरी तरह इनसे ढकी रहती हैं। इन्हें किसी प्रकार की हानि पहुंचाने का प्रयत्न करने वाले को इनके शूल जैसे कांटों का सामना करना होता है। ये कांटों से अपनी सुरक्षा करते हैं।

पौधे केवल अपनी रक्षा के लिए ही नहीं अपितु अपनी संतान की रक्षा के लिए भी प्रयत्न करते देखे जाते हैं। 'लिनेरिया' इसी प्रकार का पौधा है। यह पथरीली चट्टानों में उगता व पनपता है। चट्टानों के बीच कहीं छोटा सा छेद अथवा खोखली-सी जगह मिलते ही वह उसमें अपनी जड़ें जमा लेता है और बाहर निकल कर चट्टान की दीवार पर अपना शरीर झुकाये स्वयं को जीवित रखता है। पर मात्र जीवित रहने से ही उसका स्वभावसिद्ध कार्य समाप्त नहीं हो जाता। अन्यान्य पौधों की भांति उसके लिए भी यह आवश्यक है कि वंश-वृद्धि करे और सीधी खड़ी पथरीली दीवार पर वंश-वृद्धि करना कोई आसान काम नहीं है। लिनेरिया अपने इस कार्य को आश्चर्यजनक ढंग से सम्पन्न करता है। इसके लिए सबसे पहले मधु-मक्खियों की बाट जोहनी पड़ती है। मधुमक्खियां इसके फूलों का पराग स्त्रीकेसर के साथ मिलाकर गर्भाधान करने में समर्थ होती हैं। मधुमक्खियों को आकृष्ट करने के लिए इसे अपने फूलों की बहार दिखलानी पड़ती है और मधुमक्खियों की प्रतीक्षा में चट्टान की दीवार से फूल कहीं सड़ न जायं, यह सोचकर लिनेरिया अपने फूलों को यथासंभव दीवार से अलग रखता है। देखा गया है कि लिनेरिया की जो शाखा दीवार से दूर होती है, उसी पर अधिकतर

पुष्प खिलते हैं। बीज तैयार हो जाने पर पौधे के सामने यह समस्या आ जाती है कि वह उन बीजों को कहां डाले, क्योंकि चट्टान की दीवार में पौधों के बीज न ठहर सकते हैं, न पनप सकते हैं। अतः वह अपनी सहज बुद्धि का सहारा लेता है। गर्भाधान की क्रिया ज्यों ही समाप्त होती है त्यों ही वह फिर दीवार की ओर झुकना शुरू कर देता है और दीवार के सहारे तब तक आगे बढ़ता है जब तक कि उसे बीजों को गिराने के लिए छेद या खाली जगह न मिल जाय। छेद मिलते ही वह उसके भीतर घुसकर अपने बीज डाल देता है। इस प्रकार बीजों को उगने व पनपने के लिए सुरक्षित स्थान पर रख कर वह निर्भय व निश्चिन्त हो जाता है।[1]

अभिप्राय यह है कि वर्तमान वनस्पतिविज्ञान जैनागमों में प्रतिपादित इस तथ्य का समर्थन करता है कि अन्य प्राणियों के समान वनस्पति भी भयाक्रांत होती है और अपनी संतान की रक्षा के लिए विविध एवं विचित्र उपायों का सहारा लेती हैं।

मैथुनसंज्ञा—आगमों में मनुष्य, पशु, पक्षी आदि के समान वनस्पति में भी मैथुनसंज्ञा मानी है। आज के वनस्पतिविज्ञान ने न केवल इसे स्वीकार ही किया है अपितु इस विषय को एक अलग उपशाखा का रूप दे दिया है वह है, "भ्रूण-विज्ञान"। भ्रूण-विज्ञान का संबंध वनस्पति की मैथुनक्रिया, गर्भाधान, भ्रूण व बीज बनने आदि से है। भारतीय वैज्ञानिक प्रो. पंचानन माहेश्वरी विश्व के वनस्पति-भ्रूण वैज्ञानिकों में अग्रणी हैं। आपने प्रयोगों द्वारा आश्चर्यजनक तथ्य प्रकट किए हैं। लगभग ८२ कुलों के पौधों के भ्रूण-परिवर्धन की कथा उनके अथक परिश्रम की साक्षी है।

वनस्पति-विज्ञान में पौधों में मैथुनक्रिया का विशद वर्णन है, उसे संक्षेप में इस प्रकार समझा जा सकता है—

---

१. नवनीत जुलाई १६५७ पृ. ५३

फूल ही वनस्पति के गर्भाधान व प्रजनन का मुख्य स्थान है। फूल में मुख्यत: ५ भाग होते हैं— (१) पुष्पवृन्त (Pedicel)—फूल का डंठल (२) बाह्य दलपुंज (Calvese)—इसमें स्थित पत्तियां फूल के सब से नीचे या बाहर की ओर रहती हैं व फूल के भीतरी भागों की रक्षा करती हैं (३) दल पुंज (Carolla)—इसमें स्थित पत्तियाँ या कलियां चित्ताकर्षक चटकीले रंग की होती हैं। ये फूल के जननांगों की रक्षा करतीं तथा अपनी सुन्दरता से कीट-पतंगों को आकृष्ट कर परागण कार्य में सहायता करती हैं (४) पुमंग-परागकेसर (Androecium)—यह पुष्प का नर-जनन अंग होता है, यह चटकीली कलियों के भीतर की ओर होता है। इसके दो भाग होते हैं—पुंतन्तु और परागकोश। पुंतन्तु परागकोश को ऊपर उठाये रखते हैं। परागकोश में परागकक्ष होते हैं, जिनके फटने पर अगणित पराग-कण बाहर निकलते हैं। (५) जायांग-गर्भकेसर (Gynaecium)—यह फूलों के बीचों-बीच होता है। इसके तीन भाग होते हैं—(१) अंडाशय (Overy), (२) वर्तिका (Style), (३) वर्तिकाग्र (Stigma)। जायांग का निचला चौड़ा व चपटा भाग अंडाशय कहलाता है। यह फूल का सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण भाग है। इसी में बीजाण्डभ्रूणधानी आदि होते हैं। इसी से एक लम्बी नली निकलती है जिसे वर्तिका या योनिनली कहते हैं। उसके सिरे पर एक गोल घुंडी सदृश रचना होती है जिसे वर्तिकाग्र या योनिछत्र कहते हैं।

पुंकेसर के परागकणों का स्त्रीकेसर के योनिछत्र से सम्मिलन, संगम या संयोजन ही वनस्पति की प्रजननक्रिया है। परागकण योनिछत्र पर आकर गिरते हैं और योनिनली में होते हुए अंडाशय-गर्भाशय में चले जाते हैं, वहां फल और बीज बनते हैं।

वनस्पतिविज्ञान में परागकोश से परागकण के योनिछत्र तक पहुँचने की क्रिया को सेचन (Pollination) कहा जाता है। यह दो प्रकार की होती है—स्व-सेचन और पर-सेचन। जब किसी फूल का

पुष्प खिलते हैं। बीज तैयार हो जाने पर पौधे के सामने यह समस्या आ जाती है कि वह उन बीजों को कहां डाले, क्योंकि चट्टान की दीवार में पौधों के बीज न ठहर सकते हैं, न पनप सकते हैं। अतः वह अपनी सहज बुद्धि का सहारा लेता है। गर्भाधान की क्रिया ज्यों ही समाप्त होती है त्यों ही वह फिर दीवार की ओर झुकना शुरू कर देता है और दीवार के सहारे तब तक आगे बढ़ता है जब तक कि उसे बीजों को गिराने के लिए छेद या खाली जगह न मिल जाय। छेद मिलते ही वह उसके भीतर घुसकर अपने बीज डाल देता है। इस प्रकार बीजों को उगने व पनपने के लिए सुरक्षित स्थान पर रख कर वह निर्भय व निश्चिन्त हो जाता है।[1]

अभिप्राय यह है कि वर्तमान वनस्पतिविज्ञान जैनागमों में प्रतिपादित इस तथ्य का समर्थन करता है कि अन्य प्राणियों के समान वनस्पति भी भयाक्रांत होती है और अपनी संतान की रक्षा के लिए विविध एवं विचित्र उपायों का सहारा लेती हैं।

मैथुनसंज्ञा—आगमों में मनुष्य, पशु, पक्षी आदि के समान वनस्पति में भी मैथुनसंज्ञा मानी है। आज के वनस्पतिविज्ञान ने न केवल इसे स्वीकार ही किया है अपितु इस विषय को एक अलग उपशाखा का रूप दे दिया है वह है, "भ्रूण-विज्ञान"। भ्रूण-विज्ञान का संबंध वनस्पति की मैथुनक्रिया, गर्भाधान, भ्रूण व बीज बनने आदि से है। भारतीय वैज्ञानिक प्रो. पंचानन माहेश्वरी विश्व के वनस्पति-भ्रूण वैज्ञानिकों में अग्रणी हैं। आपने प्रयोगों द्वारा आश्चर्यजनक तथ्य प्रकट किए है। लगभग ८२ कुलों के पौधों के भ्रूण-परिवर्धन की कथा उनके अथक परिश्रम की साक्षी है।

वनस्पति-विज्ञान में पौधों में मैथुनक्रिया का विशद वर्णन है, उसे संक्षेप में इस प्रकार समझा जा सकता है—

---

१ नवनीत जुलाई १९५७ पृ. ५३

फूल ही वनस्पति के गर्भाधान व प्रजनन का मुख्य स्थान है। फूल में मुख्यत: ५ भाग होते हैं— (१) पुष्पवृन्त (Pedicel)—फूल का डंठल (२) बाह्य दलपुंज (Calvese)—इसमें स्थित पत्तियां फूल के सब से नीचे या बाहर की ओर रहती हैं व फूल के भीतरी भागों की रक्षा करती हैं (३) दल पुंज (Carolla)—इसमें स्थित पत्तियां या कलियां चित्ताकर्षक चटकीले रंग की होती हैं। ये फूल के जननांगों की रक्षा करतीं तथा अपनी सुन्दरता से कीट-पतंगों को आकृष्ट कर परागण कार्य में सहायता करती हैं (४) पुमंग-परागकेसर (Androecium)—यह पुष्प का नर-जनन अंग होता है, यह चटकीली कलियों के भीतर की ओर होता है। इसके दो भाग होते हैं—पुंतन्तु और परागकोश। पुंतन्तु परागकोश को ऊपर उठाये रखते हैं। परागकोश में परागकक्ष होते हैं, जिनके फटने पर अगणित पराग-कण बाहर निकलते हैं। (५) जायांग-गर्भकेसर (Gynaecium)—यह फूलों के बीचों-बीच होता है। इसके तीन भाग होते हैं—(१) अंडाशय (Overy), (२) वर्तिका (Style), (३) वर्तिकाग्र (Stigma)। जायांग का निचला चौड़ा व चपटा भाग अंडाशय कहलाता है। यह फूल का सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण भाग है। इसी में बीजाण्डभ्रूणधानी आदि होते हैं। इसी से एक लम्बी नली निकलती है जिसे वर्तिका या योनिनली कहते हैं। उसके सिरे पर एक गोल घुंडी सदृश रचना होती है जिसे वर्तिकाग्र या योनिछत्र कहते हैं।

पुंकेसर के परागकणों का स्त्रीकेसर के योनिछत्र से सम्मिलन, संगम या संयोजन ही वनस्पति की प्रजननक्रिया है। परागकण योनिछत्र पर आकर गिरते हैं और योनिनली में होते हुए अंडाशय-गर्भाशय में चले जाते हैं, वहां फल और बीज बनते हैं।

वनस्पतिविज्ञान में परागकोश से परागकण के योनिछत्र तक पहुँचने की क्रिया को सेचन (Pollination) कहा जाता है। यह दो प्रकार की होती है—स्व-सेचन और पर-सेचन। जब किसी फूल का

परागकण उसी फूल के योनिछत्र तक पहुंचता है तो यह स्वसेचन कहलाता है, जैसा कृष्णकोली, सूर्यमुखी आदि फूलों में होता है। जब किसी फूल का परागकण दूसरे फूल के योनिछत्र पर पहुंचता है तो उसे पहुंचने में वायु, कीट-पतंग, जानवर, जल आदि अन्य माध्यमों की आवश्यकता होती है। यह पर-सेचन कहलाता है। वायु-सेचन, गेहूँ, जौ आदि में, कीटसेचन सुंदर-सुगंधित फूलों में, जलसेचन वैलिसनेरिया आदि जल में लगे पौधों में तथा जन्तुओं द्वारा सेचन कदंब आदि पेड़ों के फूलों में होता है।

गर्भाधान—सेचन क्रिया द्वारा परागकण योनिनली के मार्ग से गर्भाशय (Overy) में पहुंचते हैं। वहां प्रत्येक परागकण एक रजकण से जुड़ता है। परागकण और रजकण का यह मिलन ही गर्भाधान है। गर्भाधान के फलस्वरूप बीजों की उत्पत्ति होती है। गर्भाशय में जितने रजकण होते हैं उनमें जितने में परागकणों द्वारा गर्भ स्थिति हो जाती है उतने ही बीज गर्भाशय में पैदा होते हैं।

यदि परागकणों का रजकणों से मिलन न हो तो बीज नहीं बन सकते। फूल तीन प्रकार के होते हैं नरलिंगी, मादालिंगी व उभयलिंगी। पपीता, खरबूजा, करेला, लौकी आदि में नरलिंगी और मादालिंगी फूल अलग-अलग होते हैं और मादा फूल पैदा करने वाले पेड़ अलग होते हैं। इस प्रकार के फूलों में गर्भाधान परसेचन से ही होता है। यही कारण है कि पपीते के बगीचे में मादावृक्षों के साथ यदि कोई नरवृक्ष न हो तो वे फलते ही नहीं हैं। गुलाब, गुड़हल, मल, सेम आदि उभयलिंगी हैं। इनमें एक ही फूल में पुंकेसर तथा स्त्रीकेसर दोनों ही मिलते हैं।

मैथुन या गर्भाधान की यह क्रिया केवल फूल देने वाली वनस्पतियों में ही नहीं अपितु फूल न देने वाली वनस्पतियों में भी होती है। ऐसी वनस्पतियां मुख्यतः तीन प्रकार की हैं—थैलोफाइटा,

बायोफाइटा और टेरीडोफाइटा। थैलोफाइटा में शैवाल, काई तथा फफूंदी मुख्य हैं। शैवाल में नरयुग्मक और स्त्रीयुग्मक का सायुज्य होता है, फफूंदी में धन तथा ऋण अंशुओं का। ब्रायोफाइटा में नर और नारी के अंग अलग-अलग होते हैं। इन्हीं के मिलन से स्पोरेनिजियम होकर प्रजनन होता है। टेरीडोफाइटा में भी इसी से मिलती-जुलती प्रक्रिया से प्रजनन होता है।

तात्पर्य यह है कि फूल और बिना फूल वाली सब ही जातियों की वनस्पति में मैथुन व प्रजननक्रिया विद्यमान है, आज यह वनस्पति विज्ञान में निर्विवाद मान्य है। इससे जैनागम में प्रतिपादित इस सिद्धान्त की पुष्टि होती है कि वनस्पति में मैथुन संज्ञा है।

परिग्रह संज्ञा—"मुच्छा परिग्गहो वुत्तो" (दशवैकालिक ६.२१) अर्थात् पदार्थों में मूर्च्छा या ममत्व भाव रखना एवं उनका संग्रह करना 'परिग्रह' है। वनस्पति में परिग्रहवृत्ति भोजन-संग्रह रूप में पायी जाती है। इस विषय के सम्बन्ध में विज्ञान-जगत् में महत्त्वपूर्ण तथ्य सामने आए हैं, यथा—

(१) पतझड़ के दिनों में जब पेड़ों की पत्तियां झड़कर गिर जाती हैं तब उनके भोजन बनाने का कार्य रुका रहता है। उस समय यदि पेड़ों के पास पहले से इकट्ठा किया हुआ भोजन न हो तो वे उन दिनों अपना जीवन धारण न कर सकें। ऐसे अवसरों के लिए बड़े पेड़ों के तनों में भोजन एकत्रित रहता है जिसके द्वारा वे जीवित रहते हैं। इसी प्रकार बहुत-सी ऐसी प्रतिकूल परिस्थितियां आती हैं जिनमें पेड़ों को अपना जीवन सुरक्षित रखने के लिए अपने किसी भाग में विशेष रूप से भोजन इकट्ठा करना पड़ता है।

(२) एक दूसरा कार्य, जो एकत्रित भोजन द्वारा पेड़ करते हैं, वह है प्रजनन कार्यों का सम्पादन करना। फूलों को विकसित करने तथा फल और बीज पैदा करने के लिए पेड़ों को बहुत ऊर्जा की

आवश्यकता पड़ती है जो उन्हें संग्रहीत भोजन द्वारा प्राप्त होती है। पेड़ बीजों में भोजन एकत्रित करते हैं जो बीजों के अंकुरण-काल में उनकी आवश्यकता पूर्ति करता है।

(३) बीजों के अतिरिक्त तने तथा जोड़ में विशेष रूप से भोजन संगृहीत कर पेड़ उनके द्वारा प्रजनन का कार्य करते हैं।

(४) जड़ों तथा तने के अतिरिक्त पेड़ प्रायः पत्तियों में भी अपना भोजन एकत्रित करते हैं। बंद गोभी में पत्तियों में भोजन इकट्ठा रहता है जिसके कारण वे मोटी हो जाती हैं। प्याज की गांठ के भीतर भी पत्तियों में ही भोजन एकत्रित रहता है जिसके सबब से पत्तियाँ मोटी तथा फूली हुई रहती हैं।

पेड़ों के बीजों के संगृहीत भोजन में स्टार्च, चर्बी तथा प्रोटीन तीनों प्रकार के पदार्थ मिलते हैं। जड़ों तथा तनों के संगृहीत भोजनों में स्टार्च विशेष रूप से मिलता है, चर्बी की मात्रा कम रहती है, प्रोटीन तो बहुत ही कम पायी जाती है। इस प्रकार यह ज्ञात हुआ है कि पेड़ बीज, जड़ तना और पत्तियों में भोजन संगृहीत करते हैं।[1]

बीज में भोजनसामग्री संग्रह करने वाले पौधों में नारियल को लिया जा सकता है। यह अपने भीतर इतनी पर्याप्त मात्रा में भोजन-सामग्री संगृहीत रखता है कि इसका पौधा जब तक खोपरे की तीन आँखों में से एक को फोड़कर अपनी जड़ें जमीन में नहीं जमा लेता है, तब तक उसके भोजन के लिए गरी का सफेद, नरम और पौष्टिक गुदा विद्यमान रहता है। अखरोट, बादाम, सेम, मटर के पौधे भी अपनी संतान के लिए पौष्टिक खाद्यसामग्री संग्रह कर पैतृक संपत्ति के रूप में अपने बीज में छोड़ जाते हैं। यह पैतृक धन छिलके के नीचे सुरक्षित रहता है। एक भी फूलने वाला पौधा ऐसा नहीं है जो अपने

---

१ प्रा. जीव विज्ञान।

बच्चे के लिए बीजरूप में पर्याप्त भोजनसामग्री इकट्ठी न कर लेता हो।[1]

तने में खाद्य पदार्थ संग्रह करने वाली वनस्पतियों के अनेक प्रकार हैं, यथा—(१) बुलविल्स—रतालू, अनन्नास, रामबांस आदि (२) राइजोम—अदरख, हल्दी आदि (३) घुइयाँ—बंडा, जमीकंद, घनकंद आदि (४) ट्यूबर—आलू, सतावर, डेहलिया आदि। ये पौधे अपने तने में विभिन्न प्रकार से भोजन-सामग्री संचय करते हैं। इनके तने भूमि के अन्तर्गत जड़रूप में रहते हैं।

पत्तियों में भोजन-सामग्री संग्रह करने वाली वनस्पतियों में प्याज, बंदगोभी आदि हैं। अनेक जाति के पौधों की पुरानी पत्तियाँ झड़ने के पूर्व ही नवीन पत्ती पैदा करने वाली कली में वह सब सामग्री संग्रह करके रखती हैं, जिसका समय आने पर पत्ती उपयोग कर अपने को विकसित कर सके।

फूलों में भोजन-सामग्री संग्रह करने वाली वनस्पतियों में नागफनी जाति के कांटेदार पौधे मुख्य हैं।

मनुष्यों की ही भांति कुछ पौधे सुरक्षा की दृष्टि से अपनी संगृहीत संपत्ति को भूमि में छिपा देते हैं। गाजर, मूली, शलजम, शकरकंद आदि इस प्रकार की वनस्पतियां हैं। वस्तुतः उनका भूमिगत भाग उनकी जड़ न होकर तना ही होता है। उन पर आँखें होती हैं। वे उनके बीज व संतानें है और आँखों के आसपास के चारों ओर का भाग पौधों के द्वारा इनके लिए संचय की हुई भोजनसामग्री है। उसका सेवन कर ये संतानें अर्थात् नये पौधे उसी प्रकार जीते व बढ़ते हैं, जिस प्रकार बालक माता का दूध पीकर जीते व बढ़ते हैं। ये आँखें ही इनकी संताने हैं, यह इसी से सिद्ध हो जाता है कि आलू या

१ नवनीत अप्रैल, १९५२, पृ. २६

अदरक के जिस टुकड़े को बोया जाता है, उसमें यदि आंखें विद्यमान हैं तो वह टुकड़ा नवीन पौधे का रूप ले लेता है, अन्यथा नष्ट हो जाता है।

कृपण व्यक्तियों के समान जलधनिया आदि कुछ वनस्पतियां भी कृपण होती हैं जो अपने लिए कुछ भी खर्च न कर सबकुछ अपनी संतान के लिए ही छोड़ जाती हैं तथा जिस प्रकार सभी मनुष्य अपने व अपनी संतान के लिए समान रूप से संग्रह नहीं कर पाते हैं, इसी प्रकार सब वनस्पतियां भी समान रूप से संग्रह नहीं कर पाती हैं। पीपल, पोस्ता, चना, मूंग आदि वनस्पतियां संतान के लिए बहुत ही कम भोजन सामग्री का संग्रह छोड़ जाती हैं। अतः इनके पौधे बीज से बाहर निकलते ही शीघ्र हरे हो जाते हैं और भोजन-प्राप्ति के लिए स्वयं परिश्रम करने लगते हैं। जिस प्रकार कुछ व्यक्ति बड़े निर्धन होते हैं वे अपनी संतान के लिए कुछ भी नहीं छोड़ जाते हैं, उसी प्रकार दूब आदि के पौधे बड़े निर्धन होते हैं और संतान के लिए कुछ नहीं जोड़ते व छोड़ते हैं। ऐसे पौधे अपनी वंश-वृद्धि के लिए एक विशेष रीति काम में लेते हैं। ये अपने तने भूमि पर फैलाते हुए बढ़ते हैं। इस प्रकार नवीन पौधे भोजन सामग्री के भंडार के अभाव में भी अपना पोषण बिना अधिक श्रम किये कर लेते हैं।

अभिप्राय यह है कि वनस्पति-विज्ञान ने प्रयोगों द्वारा यह प्रमाणित कर दिया है कि मानव के समान ही वनस्पति में भी परिग्रह-संज्ञा विद्यमान है और यह अपने भविष्य व भावी संतान की सुरक्षा, सुविधा के लिए सामग्री व सम्पत्ति संचित करती हैं।

कषाय

जैन-ग्रन्थों में प्रयुक्त 'कषाय' शब्द अपना विशेष पारिभाषिक अर्थ रखता है, यथा—

> सुख-दुक्ख सुबहुसस्सं कम्मक्खेत्तं करोदि जीवस्स।
> संसार-दूरमेरं तेण कसाओत्ति णं वेंति॥
> —गो. जी. २८२, धवला १-१-४

जीव के सुख-दुःख रूप अनेक प्रकार के धान्य को उत्पन्न करने वाले तथा जिसकी संसार रूप मर्यादा अत्यन्त दूर है, ऐसे कर्म-रूप खेत का जो कर्षण करता या उसे फल देने योग्य बनाता है, उसे 'कषाय' कहते हैं।

आत्मा को कसने—बद्ध करने वाला कर्म है। कर्म की उत्पत्ति का कारण राग-द्वेष रूप परिणाम-भाव है। अतः राग-द्वेषात्मक परिणाम ही कर्षण रूप कषाय है। कषाय के चार भेद हैं।

चत्तारि कसाया पण्णत्ता, तं जहा कोह-कसाए, माण-कसाए, माया-कसाए, लोभ-कसाए, एवं नेरइयाणं जाव वेमाणियाणं।

—स्थानांग श्रु. १ अ. ४ उ. १ सू. १८

कषाय चार हैं—क्रोध, मान, माया और लोभ। ये चारों ही कषाय नारक जीवों से लेकर वैमानिक देवों तक अर्थात् सर्व संसारी जीवों में पाये जाते हैं। अतः वनस्पति में भी कषाय के ये चारों ही भेद माने गये हैं।

क्रोध कषाय—जिस प्रकार मनुष्य, पशु आदि अन्य प्राणी कुपित व हर्षित होते हैं, उसी प्रकार वनस्पतियां भी कुपित व हर्षित होती हैं। "सूडान और वेस्ट इण्डीज में एक ऐसा वृक्ष पाया जाता है, जिसमें से बड़ी अद्भुत प्रकार की राग-रागनियां निकलती रहती हैं और रात में इन्हीं वृक्षों में ऐसा रोना-धोना आरम्भ होता है कि कभी-कभी यात्री यह समझ बैठता है कि निकट ही कहीं कोई ऐसा परिवार है, जिसमें कोई मर गया है और सब बैठे रो रहे हैं, सिसक रहे हैं।"[1]

क्रोध का एक रूप 'रोष' है। जिस प्रकार बर्रं आदि मक्खियों के छत्ते के पास कोई व्यक्ति पहुंच जाय तो ये मक्खियां रुष्ट होकर

---

१ नवनीत जून १९६६, पृ. ८७

उस व्यक्ति को डंक मारने लगती हैं। इनके डंक मारने से तीव्र पीड़ा होती है जो तीन-चार दिन तक चलती रहती है। इसी प्रकार क्वींस और न्यू साउथ वेल्स में एक ऐसा वृक्ष पाया जाता है जो अपने पास आने वाले व्यक्ति को डंक मारता है। इसे 'टच मी नाट' या 'डंक मारने वाला वृक्ष' कहा जाता है।

इन वृक्षों पर इनके आकार-प्रकार के अनुसार बड़े नुकीले और तेज धारवाले कांटे होते हैं। इसके अलावा इस वृक्ष की १२ इन्च लम्बी, खूब घनी और पान के आकार की चौड़ी पत्तियां होती हैं। इन पत्तियों पर लम्बे बाल के समान रोये होते हैं। अगर कोई व्यक्ति इनके पास पहुंच जाये, तो ये पत्तियां उस व्यक्ति से चिपक जाती हैं और डंक मारने लगती है। इनके डंक मारने से बड़ी मर्मांतक पीड़ा होती है। यदि तुरन्त कोई दवा न दी जावे तो यह पीड़ा लगातार चार दिनों तक चलती है।[1]

कलह-संघर्ष भी क्रोध या कोप का ही एक रूप है। वनस्पतियां भी अपनी रक्षा व स्वार्थ हेतु संघर्ष करती हैं। यथा—"सभी पौधे अपनी विपरीत परिस्थितियों में संघर्ष करके जीवन-रक्षा करते हैं। जहां सहायता मिल सकती है वहां वे पारस्परिक सहायता करते और एक दूसरे का आश्रय लेते हैं। जहां सहायता सहज में नहीं मिलती वहां लता वृक्ष के सहारे पनपती है, एक से दूसरा पौधा पोषण पाता है। जहां सहायता सहज में नहीं मिलती वहां बरबस ली जाती है। आत्म-रक्षा के लिए आपस में रगड़ा-झगड़ा भी होता है—एक दूसरे का वे नाश भी करते हैं।"[2]

मान—जैनदर्शन मनुष्य के समान वनस्पति में भी कषाय मानता है। समवायांग सूत्र में मान के रूपों का वर्णन करते हुए कहा है—

---

१ नवनीत जुलाई १९६२, पृ. ७०

२ नवनीत जुलाई १९५७, पृ. ५२

"माणे, मदे, दप्पे, थमे, अत्तुक्कोसे, गव्वे, परपरिवाए, उक्कोसे, अवक्कोसे, उन्नए, उन्नामे"—समवायांग, ५२

अर्थात् मान, मद, दर्प, स्तम्भ, आत्मोत्कर्ष, गर्व, परपरिवाद, उत्कर्ष, अपकर्ष, उन्नत और उन्नाम, ये ग्यारह मान के अभिधानहैं।संक्षेप में कहा जाय तो धन-धान्य आदि पर-पदार्थों व गुणों में अहंत्व भाव होना ही 'मान' है; जैसे धन होने से अपने को धनी मानना, विद्या से अपने को विद्वान् मानना आदि। मानी व्यक्ति की संपत्ति में अहंत्व बुद्धि होती है। अतः सम्पत्ति के विस्तार में अपना विस्तार व उत्कर्ष मानता है। यही कारण है कि मानी प्राणी में तन, धन, जन आदि संपत्ति के विस्तार की बड़ी भूख होती है। संपत्ति के विस्तार से उसके अहंकार का पोषण होता है और फिर यह अहंकार गर्व, मद, उन्मत्तता आदि रूप धारण करता है। मान के ये रूप वनस्पति में भी पाये जाते हैं।

जिस प्रकार मनुष्य धन से सम्पन्न होता है तो गर्व से फूला नहीं समाता है उसी प्रकार पौधे भी फूलों से सम्पन्न होते हैं तो प्रफुल्लित हो, फूले नहीं समाते हैं और गर्व से उन्मुक्त हवा में झूलने लगते हैं। उनकी यह उन्मत्तता उनके अंग-प्रत्यंग से फूट पड़ती है। श्री जगदीश-चन्द्र बसु ने यंत्रों की सहायता से सिद्ध किया कि मनुष्य की भाँति पौधे भी अनुकूल भोजन-सामग्री पाकर एवं मधुर संगीत सुनकर हर्ष से उन्मत्त हो जाते हैं और इन्हें प्रतिकूल पाकर मुरझाने लगते हैं।

उत्कर्ष मान का ही एक रूप है और उत्कर्ष की यह उपलब्धि धन, जन आदि संपत्ति के विस्तार से होती है। मनुष्य में विस्तार की यह भूख कई रूपों में प्रकट होती है। उनमें मुख्य है वैयक्तिक व पारिवारिक रूप। मनुष्य वैयक्तिक उत्कर्ष के लिए अपने बल, बुद्धि, विद्या, धन-धान्य आदि का विस्तार करता है और पारिवारिक उत्कर्ष के लिए वंश-वृद्धि करता है। इसी प्रकार वनस्पति में भी

विस्तारवृत्ति के वैयक्तिक और पारिवारिक ये दोनों रूप देखे जाते हैं। वृक्ष का अपने शरीर व शरीर संबंधी विस्तार वैयक्तिक उत्कर्ष का रूप है व अपनी जाति या वंश का विस्तार पारिवारिक उत्कर्ष का रूप है।

वनस्पति अपना वैयक्तिक उत्कर्ष भोजन-संग्रह के रूप में संपत्ति जुटाकर करती है। मूली, गाजर आदि कई पौधे जब अपनी जड़ में पर्याप्त भोजन संग्रह कर लेते है तो फूलकर कुप्पा हो जाते हैं। घुइयां आदि पौधे अपने तने में भोजन-संग्रह होने पर गर्वोन्मत्तहो जाते हैं। बंदगोभी आदि पौधे अपने पत्तों में भोजन का भंडार भरकर अहंकार का पोषण करते है। नागफनी आदि पौधे फूलों में भोजनसामग्री जमा कर फूले नहीं समाते हैं। तात्पर्य यह है कि वनस्पतियां अपनी जड़ें, तने, पत्ते, फूल आदि अंगों में खाद्य संपत्ति का संचय होने पर उन्मत्त हो झूमने लगती हैं।

वनस्पति अपने वंश के विस्तार या उत्कर्ष के लिए भी पूर्ण प्रयत्नशील रहती है। जिस प्रकार जीव-जन्तु प्रजनन द्वारा अपनी जाति या वंश का विस्तार करते हैं, उसी प्रकार वनस्पतियां अपने वंश का शीघ्रता से विस्तार कर अपना उत्कर्ष देखना चाहती हैं। उदाहरणार्थ 'आधाशीशी का डोडा' वनस्पति को ही लीजिये। एक समय था जब इसका डोडा बड़ी कठिनाई से मिलता था और बड़ा महंगा बिकता था। परन्तु कुछ समय पूर्व इसने अपने वंश का विस्तार करना प्रारंभ किया और अल्प काल में ही अपने जंगल के जंगल खड़े कर लिए। इसका यह विस्तार विस्मयकारी था। जहां कहीं भी इसे यत्किंचित् भी खाली जमीन मिली, इसने अपनी जड़ें जमायीं और फैलकर उस पर अपना ऐसा साम्राज्य स्थापित किया जिसमें मानव भी प्रवेश करते हुए हिचकता था।

राजस्थान के अनेक भूभागों का तो यह हाल था कि उनमें स्थित

पर्वत, खेत, पड़त भूमि आदि पर जहाँ कहीं भी दृष्टि पड़ती थी यह वनस्पति अपने विस्तार के गर्व से उन्मत्त हो झूमती दिखाई देती थी।

जीव-जन्तु के समान वनस्पतियां भी अपनी वंश-वृद्धि के लिए विविध व विलक्षण उपाय काम में लेती हैं। अनेक वनस्पतियों के बीजों के पंख होते हैं जिनसे वे उड़कर दूर-दूर पड़कर वंश का विस्तार करते हैं। ब्राजील के वृक्ष 'हुराक्रेपिटान्स' की तो अपने वंश-विस्तार की विधि बड़ी विचित्र है। इसके टेनिस बाल जितने बड़े फल का शुष्क काष्ठ सरीखा आवरण अचानक फूटता है। फूटने की ध्वनि आधा मील दूर तक सुनाई देती है और फलों में से पके बीज उछलकर दूर दूर तक पहुंचते हैं।

विस्तार के भूखे वृक्षों में से 'वट' भी एक है। यह अपनी डालियों से शाखाएं फेंकता है जो भूमि पर अपने पैर जमाकर तने व जड़ का रूप ले लेती हैं। इस प्रकार बरगद अपना विस्तार करता हुआ आगे से आगे बढ़ता जाता है। कलकत्ते के बोटेनिकल बाग में खड़े बरगद के ५०० तने हैं। बरगद का यह राई से भी छोटा बीज आज २००० फुट की परिधि में विस्तार कर अपने उत्कर्ष का प्रदर्शन कर रहा है।

"मैनग्रोज" वनस्पति भी विस्तारवादी प्रकृति की है। "पृथ्वी के तेवीस अक्षांश से लेकर अट्ठाईस अक्षांश तक भूमध्यरेखा के उत्तर-दक्षिण दोनों ओर समुद्र के किनारे पर 'मैनग्रोज' वृक्षों के जंगल के जंगल फैले हुए हैं और बराबर समुद्र की ओर बढ़ते चलते हैं। ये फ्लोरिडा के समुद्रतट पर हजारों वर्ग मील में फैले हुए है। प्रशान्त महासागर के किनारे-किनारे इनका बहुत विस्तार है। इनकी जड़ें ऊपरी तने और शाखाओं से रस्सी की तरह लटकती हैं और ज्वार द्वारा छोड़ी गई कीचड़ मिट्टी में घुसती जाती हैं। ये जड़ें लंबी होती हैं और इन पर खड़ा पेड़ वैसा ही लगता है जैसे कोई व्यक्ति दो

लंबे बांसों में पांवदान लगाकर लंबे-लंबे डग भरता हो।"[1]

माया—आगम में माया के नामों का वर्णन करते हुए कहा है—

"माया, उवही, नियडी, वलए, गहणे, णूमे, कल्के, दंभे, कूड़े, झिमे, किव्विसे, आयरणया, गूहणया, वंचणया, पलिकुंचणया, सातिजोगे।" समवायांग, ५२

माया, उपधि, निकृत, वलय, गहन, नूम, कल्क, दंभ, कूट, जिह्म, किल्विषिक, आयरणया, गूहनता, वंचनता, परिकुंचनता और सातियोग ये माया के नाम हैं। हिन्दी भाषा में माया के लिए कपट, कुटिलता, कृत्रिमता, धोखा, धूर्तता, छल, वंचना, जिह्म, निकृति आदि शब्दों का प्रयोग होता है।

वनस्पतिविज्ञान के नवीन अनुसंधान ने यह सिद्ध कर दिया है कि अन्य प्राणियों के समान वनस्पति में भी माया प्रकृति पायी जाती है। जिस प्रकार मायावी पुरुष पहले तो मिष्ट वचन व शिष्ट व्यवहार से दूसरे पुरुष को अपने प्रेम-पाश में फांस लेता है और फिर धोखा देकर उसका सर्वस्व छीन लेता है, इसी प्रकार वनस्पतियां भी दूसरों को अपने मायाजाल में फांसने में निपुण होती हैं। ऐसी ही वनस्पतियों में से कुछ के उदाहरण यहां प्रस्तुत किए जा रहे हैं।

मलाया में 'फिगस रुबी जिनोसा' नामक विशाल वृक्ष पाया जाता है। यह अंजीर-जाति का वृक्ष होता है। यह बड़ा मायावी होता है। पहले यह अपने पड़ौसी पेड़-पौधों को बड़े प्रेम से गले लगाता है। फिर उनका रस चूसकर लकड़ियों को फेंक देता है। यहां के निवासी इन वृक्षों को देव रूप मानते हैं।

मायावी मनुष्य बड़े कुटिल होते हैं। वे बाहरी व्यवहार से तो बड़े सीधे-सादे, भोले भाले लगते हैं, परन्तु जो इनके चंगुल में फंस

---

१ नवनीत, अक्टूबर १९६२

जाता है उसे दुरन्त दुःख भोगना पड़ता है। इसी प्रकार की कुछ वनस्पतियाँ भी हैं। उनमें से एक 'जीनस लापोर्टिया' भी है। यह न्यूसाउथवेल्स तथा क्वींस लैण्ड के घने वनों में पायी जाती है। इसके दैत्याकार वृक्ष की ऊंचाई ८०-९० फुट होती है। इसके पत्ते हृदय के आकार के तथा एक फुट से भी अधिक लम्बे होते हैं। इन पत्तों में भूरे रंग के रेशेदार जहरीले कांटे होते हैं। देखने में ये वृक्ष बड़े सीधे-सादे लगते हैं। परन्तु भूल से कोई पशु-पक्षी या मनुष्य इन पत्रों से छू भी जाय तो उसे कुछ दिन तक मर्मांतक वेदना सहन करनी पड़ती है। इसलिए इनको वहाँ के निवासी 'टच मी नाट' मुझे मत छुओ, इस नाम से पुकारते हैं।

कपट व्यवहार में 'वीनस फ्लाई ट्रैप' (Venus fly trap) पौधा भी कम निपुण नहीं है। यह कपट कपाटों के सहारे करता है। यह विशेषतया अमेरिका में होता है तथा नमी व दलदल वाले स्थानों पर उगता है। इसका पत्रदल बीच लम्बाई से दो भागों विभाजित रहता है। ये दोनों भाग कपाट की भांति अन्दर की ओर मुड़कर बन्द हो सकते हैं। पत्रदल के प्रत्येक अर्ध भाग की ऊपरी सतह पर तीन लम्बे बाल होते हैं जो बहुत ही सचेतन होते हैं। किसी बाल को जरा-सा छूने पर ही पत्रदल के दोनों अर्ध भाग शीघ्रता से अन्दर की ओर कपाट की भांति बंद हो जाते हैं। पत्ती की ऊपरी सतह से लाल रंग की बहुत-सी छोटी-छोटी ग्रन्थियां होती हैं। जब कोई कीड़ा पत्ती की बाल से छू जाता है तो पत्ती बन्द हो जाती है और कीड़ा उसमें कैद हो जाता है। फिर पत्ती की सतह पर स्थित ग्रन्थियों से एक प्रकार का पाचक रस निकलता है जो कीड़े के मांस को पचा-कर विलयन के रूप में बदल देता है। यह विलयन फिर पत्तों के रोओं द्वारा चूस लिया जाता है।

धूर्तता भी माया का ही एक रूप है। मनुष्यों के समान कुछ पौधे भी अपना स्वार्थ सिद्ध करने में धूर्तता से काम लेते हैं।

'पश्चिमी द्वीप समूह और अर्जेन्टाइना में विशेप जाति के वृक्ष पाये जाते हैं, जिन्हें वहां के निवासी 'क्लोरो फार्म ट्री' कहते हैं। ये वृक्ष बड़े धूर्त होते हैं। पहले तो वे सुरीली लोरियों जैसी ध्वनि निकालते हैं जिससे शिकार मस्त होकर सो जाता है। फिर ये वृक्ष उस सोये हुए व्यक्ति का खून पिशाच की भांति चूस लेते हैं।[1]

जिस प्रकार कुछ मनुष्य पहले तो भोले-भाले व भले बनकर किसी के यहां जम जाते हैं, फिर धीरे-धीरे आश्रयदाता के व्यवसाय को छीनकर स्वयं उससे कमाने लगते हैं। उनके इस कपटपूर्वक कार्य के परिणाम स्वरूप बेचारा आश्रयदाता तो कंगाल हो जाता है और वे स्वयं फलने-फूलने लगते हैं। इसी प्रकार कुछ पौधे भी कपटपूर्ण व्यवहार करने में बड़े निष्णात होते हैं उनमें से 'अमरबेल' भी एक है। यह भारत में प्रायः सर्वत्र पायी जाती है। यह दिखने में बड़ी सुन्दर, स्पर्श में बड़ी मुलायम होती है। इस प्रकार यह अपने रंग-रूप से बड़ी ही भली व भोली-भाली लगती है। यह स्नेह तो इतना दिखाती है कि जिस वृक्ष का संग करती है उससे लिपट ही जाती है। परन्तु फिर यह धीरे-धीरे 'मुंह में राम बगल में छुरी' कहावत चरितार्थ करती है। यह अपनी शाखाओं का जाल—जिसे मायाजाल ही कहना चाहिये—चारों ओर फैलाती है और उनके द्वारा अपने आश्रयदाता वृक्ष का सर्वस्व हड़पकर उसे कंगाल व कंकाल बनाकर ही छोड़ती है।

मलेशिया के क्वींस लैण्ड प्रांत में अमरबेल जैसी ही एक अन्य बेल होती है। यह बड़ी प्राण घातक होती है यह बेल जिस वृक्ष पर चढ़ती है, छह मास के भीतर उस पर अपना जाल बिछा देती है जिससे वह वृक्ष सूख जाता है। जब उस पर चूसने व लूटने को कुछ भी शेप नहीं रहता है तो अपना माया-जाल दूसरे वृक्ष पर फैलाने के

१ नवनीत, जुलाई ६६, पृ. ५३

लिए इधर-उधर अपने चरण बढ़ाती है।

अपनी माया में फँसाकर जीव-जन्तुओं का शिकार व आहार करने में नेपेन्थाज या घटपर्णी वनस्पति भी कम नहीं है। यह आस्ट्रेलिया, बोरनियो, लंका व भारत के आसाम के वनों में मिलती है। अमेरिका में भी इसकी कई जातियाँ पायी जाती है। यह कीचड़ व दलदली भूमि में होती है। इसका पौधा छोटा होता है तथा तना जमीन पर रेंगता हुआ आगे बढ़ता है। इस तने में से शाखाएँ निकलती हैं जो ऊपर की ओर उठी रहती हैं। इन शाखाओं पर मोटी, चिकनी व लम्बी पत्तियां होती हैं। पत्तियों की लम्बाई तीन फुट से भी अधिक तक होती है। प्रत्येक पत्ती का सिरा पतला होकर धागे के रूप में हो जाता है। यह धागा किसी दूसरे पेड़ या किसी अन्य वस्तु के चारों ओर लिपट जाता है। इस धागे से लटका हुआ एक खोखले घड़े-सा फूल होता है। घड़े का मुंह सदा ऊपर की ओर रहता है तथा उसके मुंह पर एक ढक्कन होता है। मुंह के पास से एक मीठा रस निकल कर उसके चारों ओर लगा रहता है। पौधा अपने इसी रस से या कभी-कभी अपनी गन्ध से कीड़े-मकोड़ों को आकृष्ट करता है। बेचारा कीड़ा स्वाद व गंध के वशीभूत हो फूल के मुंह द्वार तक पहुँच जाता है। घड़े की मुंह की सतह अन्दर की ओर बहुत चिकनी व फिसलनदार होती है। इस कारण कीड़ा जैसे ही घड़े के मुंह पर बैठता है फिसलकर घड़े के भीतर—जिसे मौत का कुआ ही कहना चाहिए—गिर जाता है और अपने को एक पेटी में, जिसका कुछ भाग पाचक तरल पदार्थ से भरा रहता है, बन्द पाता है। कीड़ा ऊपर की ओर आने का यत्न करता है तो नीचे की ओर झुके हुए नुकीले बाल उसके इस यत्न को निष्फल कर देते हैं। कीड़ा मृत्यु-कूप के तरल पदार्थ में गोते खाने लगता है और प्राण दे देता है। फिर यह तरल पदार्थ उसे पचाकर पौधे का भोजन बना देता है।

सनड्यू या ड्रासरा (Sundew or Drasara)—वनस्पति भी धोखेबाज वनस्पतियों में से एक है। ऐसे तो इसका पौधा प्रायः संसार के प्रत्येक महाद्वीप में पाया जाता है परन्तु भारत के चटगाँव व पूर्वी बंगाल के जंगलों में विशेष पाया जाता है। इसके फूल नहीं, पत्तियाँ चित्ताकर्षक होती हैं। यह पौधा कुछ इंच ही ऊँचा होता है और इस पर पत्तियों के गुच्छे निकले रहते हैं जिन्हें टेंटेकिल (Tantacles) कहते हैं। प्रत्येक टेंटेकिल में एक छोटा डंठल होता है जिसके सिरे पर एक फूली हुई घुंडी रहती है। घुंडी में से लाल गुलाबी रंग का गाढ़ा-सा रस निकलकर घुंडी के चारों ओर की पत्तियों पर फैल जाता है। जो धूप में दूर से ही ओस कणों के समान बहुत तेज चमकता है। कुछ कीड़े घुंडी पर बैठते ही रस में चिपक जाते हैं। जैसे जैसे कीड़ा अपने को छुड़ाने का प्रयत्न करता है वह और भी अधिक चिपकता जाता है। साथ ही पत्ती के बीच का भाग दबकर प्याले की तरह हो जाता है। टेंटेकिल मुड़कर कीड़े को इसी प्याले में डाल देता है। अन्य टेंटेकिल भी साथ ही मुड़कर अपनी अपनी घुंडियों द्वारा कीड़े को प्याले में दबोचते हैं। इस प्रकार कीड़ा इस प्याले में कैद हो जाता है। फिर टेंटेकिल की घुण्डियों से एक प्रकार का रस निकलता है जो कीड़े के पाच्य भाग को घुला देता है। इसी विलयन को फिर टेंटेकिल चूसकर पौधे का आहार बना देते हैं। टेंटेकिल वापस सीधे खड़े हो जाते हैं। कीड़े का जो भाग पचने से बच जाता है, वह पत्ती से झड़कर नीचे गिर जाता है।

आशय यह है कि वनस्पतियाँ भी माया-जाल रचने में मनुष्य की भांति विविध उपाय काम में लेती हैं।

लोभ—राग, आकर्षण या आसक्ति को लोभ कहा गया है। आगम में लोभ के रूप इस प्रकार कहे हैं—लोभे, इच्छा, मुच्छा, कंखा, गेही, तिण्हा, भिज्जा, अभिज्जा, कामासा, भोगासा, जीवियासा, मरणासा, नंदो, रागे ॥ समवायांग, ५२

अर्थात् लोभ, इच्छा, मूर्च्छा, कांक्षा, गृद्धता, तृष्णा, भिद्या, अभिद्या, कामाशा, भोगाशा, जीविताशा, मरणाशा, नंदी और राग, ये लोभ के रूप हैं। आगम में लोभ के ये रूप अन्य प्राणियों के समान वनस्पति में भी माने हैं। इस विषय में डॉ. श्री जगदीशचन्द्र बसु ने यंत्रों व प्रयोगों की सहायता से यह सिद्ध कर दिखाया कि वनस्पति में इच्छा, तृष्णा, कामना, ममता आदि रागात्मक वृत्तियां विद्यमान हैं। प्रयोगों से यह ज्ञात हुआ है कि यूकलिप्टिस का पौधा अपनी भोगेच्छा की पूर्ति हेतु अपनी जड़ें उसी ओर आगे बढ़ाता है जिस ओर उसका भोज्य पदार्थ जल होता है। फिर यह जल सैकड़ों फुट दूर ही क्यों न हो व मार्ग में कितनी ही बाधाएं क्यों न आवें।

इच्छा भी लोभ का ही एक रूप है। जिस प्रकार मनुष्य इच्छा-पूर्ति हेतु प्रयत्नशील होते हैं, उसी प्रकार वनस्पतियां भी अपनी इच्छा-पूर्ति हेतु प्रयत्नशील होती हैं। विश्वविख्यात विज्ञानवेत्ता डार्विन का कथन है कि इतना तो निस्संदेह मानना ही पड़ेगा कि जड़ें कहीं ऊपर की ओर चलती हैं तो कहीं नीचे की ओर, कहीं झुकती हैं तो कहीं हटती है। खतरे की आशंका होने पर मुड़कर आगे बढ़ती हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि पौधा अपने भोजन की इच्छा-पूर्ति के लिए सोच-विचार पूर्वक अपनी जड़ों को धरती के भीतर आगे बढ़ाने का प्रयत्न करता है।[1]

तृष्णा भी लोभ का ही एक अंग है। जिस प्रकार लोभी व्यक्ति तृष्णा के वश हो वस्तुओं का संग्रह करता है, इसी प्रकार वनस्पतियां भी तृष्णा के वश हो भोजन-संग्रह करती हैं। इस विषय में वनस्पति-विज्ञान-विशेषज्ञों का कथन है कि पौधों के इस भोजन संग्रह से ही उनमें बसंत ऋतु में नई पत्तियां फूटती हैं। वनस्पतिविज्ञान से अनभिज्ञ व्यक्ति समझते हैं कि ये पत्तियां शुरू से बसंत ऋतु में ही बनती

---

१ नवनीत, जुलाई ५७ पृ. ५२

होंगी, परन्तु सच तो यह है कि पुरानी पत्तियों के गिरने से पहले ही उनका स्थान ग्रहण करने वाली नई पत्तियां बन जाती हैं। मेहनत कर पौधे पत्ती पैदा करने वाली कली में सब सामग्री जमा करके रखते हैं जिससे उचित ऋतु आने पर नयी पत्तियाँ बन सकें।[1]

जैसे कुछ मनुष्यों में अपने अथवा अपनी संतान के भविष्य की सुरक्षा के लिए धन-संग्रह करने रूप लोभ-भावना होती है, उसी प्रकार कुछ वनस्पतियों में अपने या अपनी संतान के भविष्य की सुरक्षा के लिए खाद्य-पदार्थ संग्रह करने की लोभ-भावना होती है। परिग्रह-प्रकरण में बताया जा चुका है कि पौधे जड़ों, तनों, कलियों, फूलों, बीजों, आदि में खाद्य-सामग्री संग्रह करते हैं। वनस्पति की यह संग्रहवृत्ति उसके लोभ या तृष्णा भाव की परिचायक है। प्राणी के लोभ या संग्रहवृत्ति का एक रूप बचत करना भी है। पौधे भी बचत करना खूब जानते हैं। जंगली गाजर, शलजम और चुकन्दर की जड़ें इसका प्रत्यक्ष प्रमाण हैं और कुछएक पौधों में तो यह जड़ प्रति साल मोटी होती जाती है, क्योंकि अपनी आमदनी में से कुछ न कुछ बचा-कर ये पौधे अपनी जड़ में जमा कर लेते हैं।

जिस प्रकार कुछ व्यक्ति अपनी बचत को सुरक्षित रखने के लिए जमीन में गाड़ देते हैं, इसी प्रकार पौधे भी जो कुछ बचाते हैं वह जमीन के नीचे कंद के रूप में जमा कर देते हैं। आलू, शकरकन्द आदि ऐसे ही चतुर पौधे हैं। सब से बड़े मजे की बात यह है कि संसार भर में अच्छी नस्ल के सभी पौधे इसी प्रकार अपनी भोज्य सामग्री अगली फसल या नवीन पौधे के लिए चतुराई से जमीन के अन्दर सुरक्षित रखते हैं।

जिस प्रकार मनुष्य की लोभ या संचय वृत्ति का एक कारण यह भी है कि भविष्य में विवाह, बीमारी, मौसर आदि अवसरों पर जरूरत

---

१ नवनीत, जुलाई ६७, पृ ५२

पड़ने के समय खुलकर खर्च कर सकें, कुछ पौधों में भी यही बात लागू होती है। घी-कुंवार जाति के पौधे फूलने से पहले वर्षों तक बढ़ते रहते हैं और अपनी जड़ों में भविष्य के लिए आवश्यक सामग्री का संचय करते हैं। इस कार्य में इन पौधों को अत्यन्त सावधानी व धैर्य का परिचय देना पड़ता है। बाद में फल पैदा करने के लिए जब एकाएक शक्ति की आवश्यकता पड़ती है तो वे अपनी संचित शक्ति का आसानी से उपयोग कर लेते हैं। शक्तिसंचय में काफी समय लगता है और इसी से ये पौधे शीघ्र नहीं फूलते। बड़ी प्रसिद्ध कहावत है कि घीकुंवार वर्षों में एक बार फूलता है।[1]

जैसे कुछ मनुष्य लोभ के वशीभूत हो, जिस हांडी में खाते हैं उसी में छेद करने वाले होते हैं अर्थात् जिनसे पलते हैं उन्हीं का व्यवसाय व सपत्ति छीनने वाले होते हैं। परिणाम-स्वरूप पालक याचक बन जाता है और याचक पालक। इसी प्रकार कुछ वनस्पतियां भी ऐसी होती हैं जो अपने आश्रयदाता पालक को हटाकर स्वयं ही वहां जम जाती हैं। पीपल, बरगद आदि में यह प्रकृति विशेष देखी जाती है। कलकत्ता के 'बोटानिकल गार्डन' में एक बरगद का पौधा ताड़ के वृक्ष पर याचक के रूप में उगा। धीरे-धीरे उसने ताड़ को बर्बाद कर उसके स्थान पर अपना आसन जमा लिया। आज उस स्थान पर ताड़ का पेड़ नहीं, बरगद का पेड़ है।

आलू, बैंगन, आदि पौधों में लगनेवाला गठवा रोग भी और कुछ नहीं, एक वनस्पति द्वारा डाला गया डाका है। यह वनस्पति अपनी जड़ें जमीन के अन्दर दूसरे पौधे के पास पहुँचाती है और उसकी पोषण-सामग्री का शोषण कर स्वयं पुष्ट बनती है।

तात्पर्य यह है कि वनस्पति में भोगेच्छा, कांक्षा, संग्रहवृत्ति, शोषण आदि लोभ के रूप विद्यमान हैं।

---

१ नवनीत, जुलाई ५७

उपयोग

'उपयोग' शब्द जैनागम में अपने विशेष पारिभाषिक अर्थ में प्रयुक्त होता है जिसके अन्तराल में ज्ञान और दर्शन समाहित हैं। उपयोग का वर्णन पन्नवणा सूत्र में इस प्रकार है—

कतिविहे णं भंते ! उवओगे पण्णत्ते ? गोयमा ! दुविहे उवओगे पण्णत्ते, तंजहा-सागारोवओगे य अणागारोवओगे य ।।

—पन्नावणासूत्र, पद २९ सू. १

गौतम गणधर श्री महावीर प्रभु से पूछते हैं—भगवन् ! उपयोग कितने प्रकार के हैं ? भगवान् कहते हैं—गौतम ! उपयोग दो प्रकार के हैं—साकार उपयोग (ज्ञान) और अनाकार उपयोग (दर्शन)।

पुढविकाइयाणं भंते ! सागारोवओगे कतिविहे पण्णत्ते ? गोयमा ! दुविहे पण्णत्ते तंजहा—मतिअण्णाण-सागारोवओगे, सुयअण्णाण-सागारोवओगे एवं जाव वणप्फइकाइयाणं। —पन्नवणा, पद २९.३

प्रश्न—हे भगवन् ! पृथ्वीकाय में साकार उपयोग कितने प्रकार का है ?

उत्तर—गौतम ! पृथ्वीकाय से लेकर वनस्पतिकाय पर्यंत मति अज्ञान और श्रुत अज्ञान यह दो प्रकार का साकारोपयोग है। अज्ञान से प्रकृत में अभिप्राय ज्ञान रहित अवस्था न होकर असम्यक् या असमीचीन ज्ञान है। जैनदर्शन ने सम्यग्दृष्टि प्राणियों को छोड़कर शेष सभी में अज्ञानरूप असम्यक्ज्ञान ही माना है।

मति-श्रुत ज्ञान—जिसके द्वारा पदार्थ का स्वरूप जाना जाय उसे ज्ञान कहते हैं। जैनदर्शन वनस्पति में ज्ञान के केवल दो भेद मतिज्ञान और श्रुतज्ञान मानता है। पदार्थ के अभिमुख होने पर अर्थात् पदार्थ की उपस्थिति में इन्द्रिय और मन के माध्यम से होने वाला सामान्य-विशेष अवबोध मति और श्रुत ज्ञान कहा [illegible]

घनिष्ठ संबंध है, यथा—

जत्थ आभिणिबोहियनाणं तत्थ सुयनाणं जत्थ सुयनाणं तत्थाभिणिबोहियनाणं, दोवि एयाइं अण्णमण्णमणुगयाइं।—नंदी सूत्र २४

अर्थात् जहां मतिज्ञान है, वहां श्रुतज्ञान है। जहां श्रुतज्ञान है, वहां मतिज्ञान है। दोनों एक दूसरे के अनुगत हैं तथा साथ-साथ रहते हैं। अतः प्रकृत में इन दोनों ज्ञानों का समुच्चय ही वर्णन किया जाता है।

आधुनिक विज्ञानवेत्ता वनस्पति में सुख-दुःख का वेदन करने, अपना हिताहित सोचने, स्मृति से लाभ उठाने, सूझ-बूझ से काम लेने की शक्तियाँ मानते है। जैनदर्शन के अनुसार इन शक्तियों का अन्तर्भाव मतिश्रुत ज्ञान में ही होता है। इस विषय में वनस्पति-वैज्ञानिकों के निम्नांकित उद्धरण व मन्तव्य पठनीय हैं—

श्री जगदीशचन्द्र बसु ने अपने प्रयोगों से यह सिद्ध कर दिया है कि पौधे त्वचा के सहारे अपने वे सब काम कर लेते हैं जो हम अपनी पाँचों ज्ञानेन्द्रियों से करते हैं। इतना ही नही, वे समय पर भोजन करते हैं, समय पर आराम करते हैं, समय पर सोते हैं और समय पर जागते हैं।

हंगरी के प्रसिद्ध वैज्ञानिक राउल फ्रोचे ने बुडापेस्ट के विख्यात पत्र 'पेस्टर लाउड' में लिखा है कि पौधों में सोचने-समझने की शक्ति वर्तमान है। उनके कथनानुसार पौधों में दूरदर्शिता और बुद्धिमानी आश्चर्यजनक रीति से विकसित हुई है। कोई भी व्यक्ति ध्यानपूर्वक पौधों की जीवनचर्या का निरीक्षण करता जाये, तो उनकी बुद्धिमत्ता देखकर उसे चकित रह जाना पड़े।[1]

---

१ नवनीत, जुलाई १९५७

"बगीचों, कोठियों की दीवारों तथा जालियों से लिपटी हुई सेम, तोरई, मटर आदि की बेलें आप अक्सर देखते ही होंगे। इसे सिर्फ कहावत ही न समझें बल्कि सच्चाई है कि ये बेलें आपकी अंगुली पकड़ते कलाई भी पकड़ लेंगी। कुछ बेलें तो चन्द मिनटों में ही आपको नर्म-नर्म हथकड़ियाँ पहनाना शुरू कर देंगी। विशेष बात है कि इनके लिपटने की वृत्ताकार गति सदैव ही घड़ी की तरह बायीं से दायीं दिशा को रहती है।

सनड्यू का फूल इतना नाजुकमिजाज है कि स्पर्श की तो बात ही क्या, वर्षा की एक बूंद में, और उससे भी बढ़कर हवा के झोंके में ही असर दिखा देता है। इस हद दर्जे की नजाकत के बावजूद भी नन्हे-नन्हे जीवों के शिकार में वह एक और कमाल दिखाता है। उसे धोखा देने की नीयत से रजकण जैसी चीज उसके ऊपर रखकर आप उसे एक दो बार ही बहका सकेंगे, लेकिन बार-बार आपकी वह काठ हंडिया नहीं चढ़ सकेगी। फूल काफी होशियार है और असल शिकार न आने तक वह अपना तमाशा आप को फिर नहीं दिखायेगा।[1]

'यूकलिप्टस' की दूरदर्शिता तो प्रसिद्ध ही है। यह पेड़ कहीं भी उगे, अपनी जड़ को फैलाकर पानी के उद्गम-स्थान तक ले जायेगा, चाहे पानी उस स्थान से कितनी ही दूर क्यों न हो। यूकलिप्टस के एक पेड़ के सम्बन्ध में आँखों-देखी घटना है। वह जहाँ पर उगा था, उससे थोड़ी दूर पर एक नहर थी। वह पेड़ अपनी जड़ों को फैलाते-फैलाते नहर की ओर ५० फुट तक तो निर्विघ्न ले गया, फिर रास्ते में उसे एक दीवार मिली, जिसके भीतर उसकी वह जड़ प्रवेश नहीं कर सकती थी। पर हताश नहीं हुआ। उसने दीवार के ऊपर ही अपनी जड़ फैलानी शुरू कर दी। अन्त में, उसे दीवार में कई फुट

---

१ विज्ञान लोक, अप्रैल १९६२, पृ. १३-१४

ऊपर एक छेद मिला। तुरन्त छेद के भीतर वह प्रवेश कर गया और भीतर ही भीतर तब तक फैलता गया, जब तक कि नहर तक पहुँच नहीं गया।

कुछ पौधों में अन्तःप्रेरणा या सहजज्ञान की अद्भुत शक्ति होती है। इसी शक्ति से उन्हें बिना किसी बाहरी साधन प्रकाश, तापमान व पृथ्वी के घूर्णन के भी सही समय का पता चल जाता है। उदाहरणार्थ—सेम की पत्तियाँ दिन को खुल जाती हैं और रात को बन्द हो जाती हैं। उसका यह कार्य घड़ी के काँटे की तरह बिलकुल ठीक वक्त पर होता है। जब कोई पौधा ठीक से बढ़ता नहीं या ठीक ढंग से फल नहीं देता है तो इसका कारण 'जैविक घड़ी' में ढूंढा जा सकता है।[1] भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद् के पौधाशरीर-विज्ञान विभाग के अध्यक्ष डॉ. गिरिराज किशोर सिरोही के उपर्युक्त कथन से स्पष्ट यह ध्वनित होता है कि जिस प्रकार मनुष्य के अनेक रोगों का कारण अन्तःकरण की विकृति होती है, उसी प्रकार वनस्पति की रुग्णावस्था का कारण भी उसके सहज ज्ञान या अन्तःप्रेरक शक्ति की विकृति में विद्यमान रहता है।

वनस्पति में व्यक्त होने वाला यह अन्तःप्रेरणा रूप मति-श्रुत ज्ञान किसी-किसी वनस्पति में इतना उच्चस्तरीय होता है कि जिसे जानकर अपने को अत्यधिक विकसित मानने वाला पंचइन्द्रियधारी मानव भी दांतों तले अंगुली दबाने लगता है। दिक्, काल व भविष्य सूचक ऐसी ही विलक्षण ज्ञानधारी वनस्पतियों में से कुछ के उदाहरण नीचे दिये जा रहे हैं।

'डार्विन का कहना है कि उद्भिजों के दिमाग नहीं है।' इतनी बात तो प्रत्यक्ष है ही कि जड़ें कहीं झुकती हैं, कहीं हटती हैं, कहीं जरा ऊपर की ओर चल पड़ती हैं, तो कभी फिर नीचे की ओर जाती

---

१ दिनमान ६ अगस्त १९६७, पृ. २८-२९

हैं और इसका अर्थ हुआ कि धरती के भीतर जड़ें काफी सोच-विचार के साथ अपने भोजन की तलाश करती हैं। शोधों से यह प्रमाणित हो चुका है कि जड़ का रेशा बहुत फूंक-फूंक कर कदम रखता है। जहाँ खतरे की आशंका हुई वहाँ से वह हट जाता है, कड़ी जमीन पाकर मुड़ जाता है तथा नमी और जल पाकर चाव से आगे बढ़ता है।[1]

यहाँ ज्ञातव्य यह है कि जैन-आगम वनस्पति में मति-श्रुत ज्ञान तो मानते हैं, परन्तु उसमें मन-मस्तिष्क नहीं मानते हैं। यह बात सामान्य विचार से बड़ी अटपटी-सी लगती है, परन्तु विकासवाद के प्रतिपादक प्रसिद्ध विद्वान् 'डार्विन' के उपर्युक्त इस मन्तव्य से कि उद्‌भिजों के दिमाग नहीं होता है फिर भी वे बड़ी सूझ-बूझ पूर्वक कदम उठाते हैं, जैनागमों की उक्त मान्यता का पूर्ण समर्थन हो जाता है।

इस प्रकार जैनागमों में प्रतिपादित इस सिद्धान्त का कि 'वनस्पति में मति-श्रुत ज्ञान है, विज्ञान पूर्णरूपेण समर्थन करता है। अब वनस्पति में अनाकार उपयोग (दर्शन) के विषय पर विचार किया जाता है—

पुढविकाइयाणं भंते ! अणागारोवओगे कतिविहे पण्णत्ते ? *गोयमा ! एगे अचक्खुदसणअणागारोवओगे पण्णत्ते, एवं जाव* वणप्फइकाइयाणं। —पन्नवणा पद २९ सूत्र ४

भगवन् ! पृथ्वीकाय में अनाकार उपयोग कितने हैं ? गौतम ! पृथ्वीकाय से वनस्पतिकाय पर्यंत एक ही *'अचक्षुदर्शन'* होता है।

अचक्षुदर्शन—देखने की शक्ति को दर्शन कहा जाता है। अचक्षुदर्शन से अभिप्रेत है चक्षु इन्द्रिय के बिना भी स्पर्शन आदि अन्य इन्द्रियों

---

१ नवनीत, जुलाई ५७, पृ. ५२

के माध्यम से वस्तु एवं उसके आकार-प्रकार को देखना। वनस्पति में एक ही इन्द्रिय स्पर्शन होती है। अतः वनस्पति को यह दर्शन केवल स्पर्शेन्द्रिय से ही होता है। इस विषय में वैज्ञानिकों के मन्तव्य कौतूहलजनक हैं तथा जैनआगम से कितने मेल खाते हैं, यह ज्ञातव्य है, यथा—

एक जर्मन वनस्पति-विज्ञानवेत्ता ने वृक्षों की देखने की शक्ति का पता लगाया है। आँखों का मुख्य कार्य होता है बाहर के जगत् के ज्ञान को भीतर पहुँचा देना। पेड़ों में यह कार्य उनकी त्वचा करती है। इनकी त्वचा के ऊपरी भाग पर जो बिन्दु सदृश छोटे-छोटे कोश होते हैं, उनमें से बहुतों में एक प्रकार का तरल पदार्थ भरा रहता है। इसी तरल पदार्थ की सहायता से वृक्ष बाहरी पदार्थों की उपस्थिति का अनुभव करते हैं।[1]

आशय यह है कि वैज्ञानिक वनस्पति में उनकी त्वचा (स्पर्शेन्द्रिय) से देखने की शक्ति को स्वीकार करते हैं और वनस्पति में यह शक्ति उसी प्रकार अधिक तीव्र होती है जिस प्रकार मानव की किसी इन्द्रिय की शक्ति का नाश हो जाने पर उसकी अन्य इन्द्रियों में अधिक क्षमता आ जाती है। उदाहरणार्थ आँखों के चले जाने पर अंधे व्यक्ति की श्रवण आदि इन्द्रियों की शक्ति तीव्र हो जाती है।

लेश्या

"कषायानुरंजिता योगप्रवृत्तिः लेश्या"[2] अर्थात् कषाय युक्त मन, वचन एवं काया की प्रवृत्ति को लेश्या कहा गया है। लेश्या के छह भेद हैं—(१) कृष्ण लेश्या (२) नील लेश्या (३) कापोत लेश्या (४) तेजो लेश्या (५) पद्म लेश्या और (६) शुक्ल लेश्या।

एगिंदियाणं! कइ लेस्साओ पण्णत्ताओ? गोयमा! चत्तारि

---

१ नवनीत, दिसम्बर, १९६२

२ धवला टीका, प्रथम खण्ड, प्रथम पुस्तक

लेस्साओ पण्णत्ताओ, तंजहा-कण्हलेस्सा जाव तेउलेस्सा। पुढविकाइयाणं भंते ! कइ लेस्साओ पण्णत्ताओ ! गोयमा ! एवं चेव, आउवणस्सइकाइयाणवि —पन्नवणा पद १७ उ.२

अर्थात् एकेन्द्रिय पृथ्वी, जल और वनस्पतिकाय में कृष्ण, नील, कापोत और तेजस् ये चार लेश्याएँ पायी जाती हैं।

लक्षण के रूप में कहें तो लेश्याएँ शुभ-अशुभ वृत्तियों और प्रवृत्तियों की द्योतक हैं।[1] अशुभ वृत्तियां क्रूरता के रूप में व शुभ वृत्तियां दयालुता के रूप में व्यक्त होती हैं। कृष्ण लेश्या-अशुभतम (क्रूरतम) वृत्ति की, नील लेश्या अशुभतर (क्रूरतर) वृत्ति की, कापोत लेश्या अशुभ(क्रूर)वृत्ति की, तेजो लेश्या शुभ वृत्ति की, पद्म लेश्या-शुभतर वृत्ति की, शुक्ल लेश्या-शुभतम वृत्ति की परिचायक है। लेश्याओं के अन्तर्हित वृत्तियों, उनकी तरतमता व पारस्परिक सम्बन्ध को समझने के लिए थर्मामीटर-तापक्रम का उदाहरण लिया जा सकता है। जिस प्रकार तापमापक में उष्णता से पारा चढ़ता है तथा शीतलता से पारा उतरता है तथा पारे का यह उतार-चढ़ाव तापमान की न्यूनाधिकता के साथ घटता-बढ़ता रहता है, इसी प्रकार प्राणी की वृत्तियों की उष्णता-अशुभत्व (क्रूरत्व) की वृद्धि से लेश्या रूप पारा चढ़ता जाता है तथा वृत्तियों की शीतलता-शुभता (दयालुता) की वृद्धि से लेश्या का पारा उतरता जाता है। लेश्याओं के पारे का यह उतार-चढ़ाव वृत्तियों के शुभाशुभ अंशों की वृद्धि ह्रास के साथ सदा घटता-बढ़ता रहता है। परन्तु जिस प्रकार मानवशरीर का तापमान एक निश्चित सीमा ९४° से १०८° के बीच ही में रहता है, इससे ऊँचा-नीचा नहीं जाता है तथा प्रत्येक स्थान, समय आदि की निम्नतम व उच्चतम तापमान की सीमा निश्चित होती है, उसी प्रकार लेश्याओं के उतार-चढ़ाव की भी प्रत्येक वर्ग के प्राणियों की, निम्नतम व

१ भगवती सूत्र, खण्ड २, पृ. ६१ के मन्त्रगत (पं. बेचरदासजी कृत अनुवाद)

उच्चतम निश्चित सीमा होती है। वनस्पतिकाय के जीवों में यह सीमा कृष्णलेश्या से लेकर तेजोलेश्या तक है अर्थात् वनस्पति में वृत्तियों का उतार-चढ़ाव कृष्ण, नील, कापोत और तेजोलेश्या के बीच चलता रहता है। परन्तु जिस प्राणी में जिस वृत्ति की अधिकता या मुख्यता होती है उसे उसी वृत्ति या लेश्या वाला कहा जाता है। उक्त चारों लेश्याओं में से किस लेश्या की प्रधानता किस वनस्पति में स्पष्टतः मिलती है, यह नीचे दिखाया जाता है—

कृष्णलेश्या—यह अशुभतम वृत्ति, प्रवृत्ति व प्रकृति मुख्यतः मानव, पशु, पक्षी पंचेन्द्रिय जीवों का भक्षण करने वाली होरिजिंटल स्क्रब आदि वनस्पतियों में देखी जाती है। ये अपने क्रूरतम भावों से सदैव शिकार की ताक में रहती हैं। जैसे ही कोई भूला-भटका अपरिचित पशु-पक्षी या मनुष्य इनके पास पहुँचता है, ये उस पर टूट पड़ती हैं। उसे अपने पंजे में ऐसा फंसा लेती हैं कि वहुत प्रयत्न करने पर भी वह छूट नहीं पाता है। अन्त में ये उसका रक्त चूसकर ही छोड़ती हैं। ऐसी वनस्पतियां अफ्रीका महाद्वीप, तस्मानिया, मेडागास्कर द्वीप में विशेषतः पायी जाती हैं।

नीललेश्या—यह अशुभतर-क्रूरतर वृत्ति मुख्यतः कीट-भक्षी यूट्रीकुलेरिया, वटर-वार्ट, सनड्यू आदि वनस्पतियों में पायी जाती है। जैसे ही कोई कीड़ा इनके फूलों पर बैठता है, ये उसे अपनी कलियों के कपाट लगा कारागार में बन्द कर लेती हैं व अपना बना लेती हैं।

अमेजन के जंगलों में 'मंचनील' नाम का वृक्ष होता है। इसमें बड़े-बड़े लाल लाल सुन्दर फूल लगते हैं इन फूलों से पीले रंग का बुरादा जैसा पदार्थ झड़ता है। वह इतना तेज व जहरीला होता है कि वह जिस अंग को छू जाता है वहां का मांस गलकर बह जाता है तथा साथ ही दाद, खाज आदि चर्म रोग उत्पन्न हो जाते हैं।

कापोतलेश्या—यह अशुभ-क्रूर वृत्ति मुख्यतः कंटीले, विषैले दुर्गंधित पौधों में पायी जाती है। ये वनस्पतियाँ आगन्तुक को काँटे चुभोकर, दुर्गंध व विष फैलाकर परेशान करती हैं। ऐसी वनस्पतियों में 'टच मी नाट' काक तुरई, चमचमी आदि को लिया जा सकता है।

इस लेश्याप्रकरण में ऊपर जिन वनस्पतियों का नामोल्लेख किया गया है, इनकी प्रवृत्तियों की विलक्षणता का वर्णन इस निबन्ध के अन्य प्रकरणों में आ चुका है। इसलिए यहाँ इनकी विलक्षणता को नहीं दिया जा रहा है। जापान के घने जंगलों में एक ऐसा वृक्ष होता है जो सूर्यास्त होते ही अपनी चोटी से धुंवा छोड़ने लगता है जिससे वृक्ष के आसपास धुएं के बादल छाए रहते हैं तथा ऐसा लगता है कि कोई ज्वालामुखी फूट पड़ा हो।

तेजोलेश्या—यह शुभ वृत्ति मधुर जल, सरस फल, सुरभित फूल वाली वनस्पतियों में मुख्यतः पायी जाती है। मेडागास्कर में नारियल पत्तों के आकार का एक 'जलवृक्ष' पाया जाता है। यह यात्रियों को पीने के लिए पर्याप्त मात्रा में जल देता है। यह तीस फुट तक ऊँचा होता है। इसकी पत्तियाँ पंखे के आकार की चौड़ी होती हैं। प्रत्येक पत्ती के डंठल के अन्त में कटोरा-सा बना होता है जिसमें जल भरा रहता है। यात्री उसमें एक छेद बनाता है जिससे जल निकलने लगता है। इस प्रकार यात्री को छह सात डंठल से लगभग एक किलोग्राम जल मिल जाता है जिसे पीकर यात्री अपनी प्यास बुझा लेता है।

मेडागास्कर के रेतीले प्रांत में एक दूसरे प्रकार का झाड़ीदार पौधा होता है जिसकी जड़ों में जल जमा रहता है। यह जल बड़ा ही स्वच्छ, शीतल, स्वादिष्ट व स्वास्थ्यवर्धक होता है। अनेक प्यासे यात्री इससे प्यास बुझाकर अपनी जान बचाते हैं।

इण्डोनेशिया के सुमात्रा द्वीप में एक ऐसा वृक्ष होता है जो जल बरसाता है। अतः वहाँ के निवासी इसे जल-वर्षक वृक्ष कहते हैं। दोपहर के समय जब सूर्य की किरणें काफी तेजी से चमकती हैं, तब यह पेड़ हवा के द्वारा भाप ग्रहण करता है। कुछ देर बाद यह भाप एकत्र होकर जल के रूप में बरसने लगती है। पेड़ के नीचे थोड़ी देर में अच्छा खासा घड़ा भर जाता है।[1]

"दक्षिणी अमेरिका के ब्राजील देश के घने जंगलों में एक विशेष प्रकार का वृक्ष पाया जाता है जिसके तने में छेद कर देने से दूध के समान सफेद तरल पदार्थ निकलने लगता है। पीने में यह तरल पदार्थ गाय के दूध के समान मीठा और पौष्टिक होता है। इसलिए वहां के जंगली लोग इसे बड़े चाव से पीते हैं। बड़े तड़के उठकर लोग अपने-अपने बर्तन लेकर पेड़ के पास पहुँच जाते हैं और तने में छेद करके पात्र को तरल पदार्थ से भर लेते हैं। इसी प्रकार अफ्रीका के जंगलों में ऐसे वृक्ष हैं जिनके तने में छेद करने से शीतल जल निकलता है। मेडागास्कर में ताड़ पेड़ से मिलता-जुलता एक वृक्ष पाया जाता है जो लगभग १२ फुट ऊंचा होता है। इसकी ७ फुट लम्बी टहनियों में ६ फुट लम्बे पत्ते इस प्रकार गोलाई में जुड़े रहते हैं जो मिलकर पंखे का रूप धारण कर लेते हैं। टहनियों का निचला जोड़ प्याले के आकार का होता है। गर्मी लगे तो पत्तों से पंखे का काम ले लीजिये, प्यास लगे तो उसमें छेदकर प्याले में पानी भरकर पी लीजिये। पथ चलते पथिकों का सहारा होने से इसे पथिक वृक्ष कहते हैं।

आशय यह है कि आगम में वनस्पति में वर्णित लेश्याएँ प्रत्यक्ष देखी जा सकती हैं।

---

१ सा. हिन्दुस्तान, १७ जून, १९६२

अन्य विशेषताएं

आयु—आगमों में वनस्पतिकाय की आयु के विषय में कहा है—

ठिती जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं दस वाससहस्साइं—जीवाभिगम प्र. प्रतिपत्त। अर्थात् वनस्पति की आयु जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त व उत्कृष्ट दस हजार वर्ष कही है।

एरीजोना विश्वविद्यालय के प्रसिद्ध वनस्पति विज्ञान विशेषज्ञ डॉ. एडमंड शूमां ने कैलिफोर्निया के इन्यों नेशनल जंगल में एक ऐसा पेड़ ढूंढा है जिसकी आयु का अनुमान ४६०० वर्ष के लगभग लगाया गया है।

संयुक्त राज्य अमेरिका के इसी कैलिफोर्निया प्रदेश में बड़े-बड़े 'डगलस फर' नामक वृक्ष पाये जाते हैं, जिनकी ऊँचाई ३०० से ४०० फुट तक होती है। किसी किसी डगलस फर के तने का व्यास ५० फुट से अधिक है। इनमें कुछ वृक्ष ४-५ हजार वर्ष की आयु के हैं। इनकी विशालता का अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि यदि किसी एक वृक्ष के तने को खोखला कर दिया जाय तो उसमें २०० से अधिक बालक बैठकर आसानी से पढ़ सकते हैं। वहाँ सड़क बनाते समय मार्ग में बाधा डालने वाले डगलस फर के वृक्षों को गिराया नहीं जाता है, केवल उनके तनों को खोखला कर सड़क आर-पार निकाल दी जाती है। इंजीनियरों का कथन है कि एक डगलस वृक्ष की लकड़ी से यदि दियासलाई की तीलियाँ बनाई जाय तो वे संसार के कुल दो अरब से भी अधिक मनुष्यों के उपयोग के लिए एक वर्ष तक पर्याप्त होगी।[1]

निद्रा—कर्मग्रंथ में तेरह जीवस्थानों में दर्शनावरणीय कर्म की चार-पांच प्रकृतियों का उदय माना है।[2] इन तेरह जीव स्थानों में

---

१ सा. हिन्दुस्तान, १७ जून, १६६२

२ षष्ठ कर्मग्रन्थ, गाथा ३५

एकेन्द्रिय जीव वनस्पति आदि भी हैं व पाँच प्रकृतियों में निद्रा भी एक है। अतः वनस्पति में निद्रा लेना माना गया है और कहा भी है—

'छउमत्थेणं भंते ! मणूसे निद्दाएज्ज वा, पयलाएज्ज वा ? हंता निद्दाएज्ज वा, पयलाएज्ज वा। —भगवती श. ५ उ. ४ सूत्र ७

गौतम गणधर पूछते हैं—भगवन् ! क्या छद्मस्थ मनुष्य निद्रा या ऊंघ लेते हैं ? भगवान् का कथन कि केवली को छोड़कर शेष सब जीव निद्रा लेते हैं। अभिप्राय यह है कि वनस्पति निद्रा लेती है। इस विषय में वैज्ञानिक हिरण्यमय बोस का कथन है—"जैसे जीवित (चलते-फिरते) प्राणी परिश्रम के बाद रात में सोकर थकावट दूर करते हैं वैसे ही पेड़-पौधे भी रात को सोते हैं।"

मद्रास में खजूर का एक ऐसा वृक्ष है जो मध्य रात में ऊँघकर गिरने लगता है और दोपहर तक सोता है। मध्याह्न के बाद फिर खड़ा होने लगता है और आधी रात तक पूर्णरूपेण खड़ा हो जाता है।

संस्थान—जैनागमों में वनस्पतिकाय को अनेक प्रकार के संस्थान (आकार) वाली कहा है, यथा—

'अणित्थंत्थसठिया'—जीवाभिगम प्रथम प्रतिपत्ति, सूत्र १७.

इन अनेकविध संस्थानों में एक वामन भी है। मनुष्य के समान वनस्पतियों में भी कुछ पौधे बौने होते हैं। जापान के एक उद्यान में एक विशेष प्रकार के बेर का पेड़ लगा है जो पाँच सौ वर्ष पुराना होने पर भी केवल ३ फुट ऊँचा है। यह वृक्ष एक बड़े गमले में उगाया गया है।[1] अमेरिका के न्यूयार्क नगर में दूसरे प्रेसिडेन्ट मि. जान एडम की स्त्री ने १४६ वर्ष पूर्व अपने ही ग्राम में गुलाब का पौधा लगाया था जो अब तक फूल देता है।

---

१ सा. हिन्दुस्तान, १७ जून १९६२

ऊँचाई—जैनागमों में वनस्पति का वर्णन करते हुए कहा गया है कि उच्चतम वनस्पति सागर में उत्पन्न होती है। आज के वनस्पति वैज्ञानिक भी उसी तथ्य को प्रस्तुत करते हैं। उनके कल्पनानुसार स्थल पर सबसे ऊँचा वनस्पति यूकलिप्टस का वृक्ष है जिसकी अधिकतम ऊँचाई ५०० फुट देखी गई है जबकि दक्षिणी अमरीका के सागर में पायी जाने वाली एक विशेष प्रकार की घास ६०० फुट से भी अधिक ऊँची होती है।

उद्योत नामकर्म—जैनागमों में वनस्पति में उद्योतनाम कर्म का उदय माना है। अर्थात् वनस्पति को प्रकाशमान भी माना है। ऐसे वृक्ष आज भी यत्र-तत्र मिलते हैं जो प्रकाशयुक्त होते हैं। अमेरिका के तिवाड़ी प्रान्त की बस्ती में सात फीट ऊँचा वृक्ष है, जिसे 'राकी' कहते हैं। यह एक मील तक रोशनी देता है जिसमें बारीक से बारीक अक्षर पढ़े जा सकते हैं।

सागरीय वनस्पतियां—आगमों में जल में जन्म लेने वाली वनस्पतियों का विस्तार से वर्णन है। वनस्पतिविशेषज्ञों ने शोध करके पता चलाया है कि "धरती पर जितने घने जंगल हैं समुद्र में उससे कम घने जंगल नहीं हैं। यह बात अजीब सी लगती है, लेकिन सत्य है। समुद्र में पर्वत है, घाटियां हैं और संकरी नहरें हैं। वहां पौधों के अनेक समूह हैं, पर ये आज भी अपनी पुरानी ही अवस्था में हैं। इनकी जड़ें नहीं हैं और इनमें पुनरुत्पादन बीज द्वारा नहीं होता, लेकिन अपवाद रूप में कुछ पौधे ऐसे भी हैं ईलग्रास (Eelgrass) ऐसा ही उदाहरण है।"[1]

वनस्पति की निर्जीवता—जैनग्रंथों में वनस्पति जिन कारणों से निर्जीव होती है, वे इस प्रकार हैं—

---

१ विज्ञानलोक, जुलाई ६६

सुक्कं पक्कं तत्तं अंविल लवणेण मिस्सअं दव्वं ।
जं जंतेण य छिण्णं तं सव्वं फासुअं भणिअं ।।

अर्थात् वनस्पति सुखाने, पकाने, तपाने, खटाई तथा लवण मिलाने, यंत्र द्वारा छेदने से प्रासुक (जीवरहित) हो जाती है। आधुनिक वैज्ञानिक भी वनस्पति को निर्जीव करने के लिए उबालना आदि उपयुक्त क्रियाओं या उपायों का ही उपयोग करते हैं। इस प्रकार वे उपर्युक्त गाथा में विहित तथ्य को प्रमाणित करते हैं।

उपसंहार

वर्तमान युग विज्ञान का युग है और प्रत्येक सिद्धान्त की प्रामाणिकता विज्ञान के प्रकाश में निरखी-परखी जाती है। दर्शन भी इसका अपवाद नहीं है। आज वही दार्शनिक सिद्धान्त जगत् में प्रतिष्ठा पाता है जो शास्त्रसम्मत तो हो ही, साथ ही विज्ञानसम्मत भी हो।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि भगवान् महावीर एव आगमकारों ने जो वनस्पति का विवेचन किया है वह उनके वैज्ञानिक ज्ञान को स्पष्ट करता है। यही नहीं वे आज के वैज्ञानिकों की भांति यंत्रों पर आश्रित नहीं थे फिर भी सूक्ष्मतम जानकारी रखते थे।

आगमों में निरूपित निगूढ़ सूत्रों की सत्यता शब्दशः विज्ञान से प्रमाणित होने के कारण सहज ही हृदय में भाव स्फुरित व स्फुटित होता है कि इन सूत्रों के प्रणेता निश्चय ही अतीन्द्रिय ज्ञानी थे, अन्यथा भौतिक प्रयोगशालाओं और यांत्रिक साधनों से शून्य उस युग में वे इनका प्रणयन न कर पाते। वनस्पतिविज्ञान के समान ही जैनागमों में निरूपित परमाणुवाद, कर्म-सिद्धान्त आदि भी विज्ञानसम्मत तो हैं ही, साथ ही अत्यन्त कल्याणकारी भी है। शास्त्र-प्रणेताओं के इस ज्ञान-दान की महान् देन के आभार से मस्तक उनके चरणों में स्वतः झुक जाता है।

यहाँ वनस्पति-विषयक जिन सूत्रों को विज्ञानसम्मत सिद्ध किया गया है उनमें से एक भी सूत्र विश्व के अन्य किसी दर्शन ग्रंथ में नहीं मिलता है तथा ये सूत्र विज्ञान के जन्म के पूर्व कपोल-कल्पित व असंभव समझे जाते थे। इन सूत्रों की रचना जैन आगमकारों ने भौतिक विज्ञान के जन्म से हजारों वर्ष पूर्व की थी। अतः यह कहा जाय तो अत्युक्ति या अतिशयोक्ति न होगी कि वनस्पतिविज्ञान के सूत्रों के मूल प्रणेता जैनागमकार ही थे।

प्राणीमात्र का प्राणाधार : वनस्पति

मानव, पशु, पक्षी, कीट, पतंग आदि सभी प्राणियों का जीवन, आहार व श्वासोच्छ्वास पर निर्भर करता है। सभी को आहार वनस्पति से ही मिलता है। सभी वनस्पति से ही जीते हैं। यदि वनस्पति न हो तो सभी प्राणी मर जायेंगे। प्राणियों के लिए आहार से भी अधिक आवश्यक है—प्राणवायु आक्सीजन। आक्सीजन के अभाव में श्वास लेना कठिन हो जाता है, जिससे प्राणी अल्पकाल में मर जाता है। हमारे श्वास छोड़ने से कार्बनडाई आक्साइड बाहर निकलती है, वह विषैली होती है। मानव निर्मित इंजनों, यंत्रों से अनेक प्रकार की विषैली गैसें निरन्तर निकलती रहती हैं जिससे वायुमण्डल दूषित होता रहता है और इसका शोधन वनस्पति से होता है। वनस्पति इन विषैली गैसों को श्वास के साथ ग्रहण करती है और इनके स्थान पर आक्सीजन गैस छोड़ती है। यही प्राणवायु प्राणीमात्र का प्राण है। इस प्रकार वनस्पति का हमारे प्राणों के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है और यदि यह कहा जाय कि "वनस्पति ही हमारा प्राण है" तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी।

आज वनों की कटाई से वे वनस्पति विहीन होते जा रहे हैं। जिसके फलस्वरूप वायु की शुद्धि तो प्रभावित हो ही रही है और अशुद्धि भी बढ़ रही है और साथ ही साथ वर्षा पर भी इसका प्रभाव पड़ रहा है और वर्षा में भारी कमी आयी है, जिससे अकाल पड़ने

लगे हैं। अकाल या सूखे के कारण प्राकृतिक सौन्दर्य नष्ट हो रहा है। सफलता, सरसता, फल फूल और अन्न जल का अभाव हो रहा है। यहाँ तक कि पीने का पानी मिलना कठिन होता जा रहा है, जिससे जीवन दूभर होता जा रहा है। इस प्रकार वनस्पति-विनाश मानव-जगत् का विनाश बनता जा रहा है। अतः हमें स्वरक्षा के लिए वनस्पति के विनाश को रोकना होगा। हमारे लिए यह अनिवार्य हो गया है कि हम अपनी सम्पत्ति से भी अधिक वनस्पति को समझें कारण कि भूमि, मुद्रा आदि तो निर्जीव धन है, वनस्पति तो सजीव धन है। सम्पत्ति के अभाव में तो हम जी सकते है पर वनस्पति के अभाव में नहीं। अतः वनस्पति अमूल्य है। जिस प्रकार हम निर्जीव सम्पत्ति के प्रति सजग होते हैं, उससे भी सैकड़ों गुना सतर्क सजीव सम्पत्ति के प्रति होना होगा। जैसे धन आदि के अपव्यय से बचते हैं, उसे बचाते हैं, उससे भी कई गुना अधिक वनस्पति को बचाने के लिए प्रयत्न करना चाहिए। सतर्कता बरतनी होगी। यही मानव मात्र का प्रमुख कर्तव्य है, क्योंकि इसी पर ही हमारा अस्तित्व टिका है। इस दृष्टि से वनस्पति रक्षणीय है। □

त्रसकाय

एक स्थान से चलकर दूसरे स्थान पर जाने वाले जीव को त्रस-काय का जीव कहते है। पूर्व के पांच प्रकरणों में एक ही स्थान पर स्थिर रहने वाले जिन पांच प्रकार के स्थावर जीवों का वर्णन किया गया है, उन सब जीवों के एक ही इन्द्रिय, काया (स्पर्शनेन्द्रिय) होती है। रसना (मुँह), घ्राण (नाक), चक्षु (आंख) और श्रोत्र (कान) ये चारों इन्द्रियां नहीं होती हैं। अतः ये एकेन्द्रिय जीव कहे जाते हैं।

त्रसकाय के जीव इन्द्रिय-दृष्टि से चार प्रकार के होते हैं—१. बेइन्द्रिय, २. तेइन्द्रिय, ३. चउरिन्द्रिय और ४. पंचेन्द्रिय। बेइन्द्रिय जीवों के काया और मुख ये दो इन्द्रियां होती हैं। जैसे—शंख, कोड़ी, सीप, अलसिया आदि। तेइन्द्रिय जीवों के काया, मुख और नाक ये तीनों इन्द्रियां होती हैं जैसे—जूँ, लीख, चींटी, कानखजूरा आदि। चउरिन्द्रिय जीवों के काया, मुख, नाक और आंख ये चार इन्द्रियां होती हैं, जैसे—मक्खी, मच्छर, भंवरा, पतंगिया आदि। पंचेन्द्रिय जीवों के काया, मुख, नाक, आंख व कान ये पांच इन्द्रियां होती हैं, जैसे—पशु, पक्षी, मनुष्य आदि। पांच से अधिक इन्द्रियों वाला कोई जीव नहीं होता है।

त्रसकाय के जीव चलते-फिरते-हिलते होने से हमें अपनी आंखों से दिखाई देते हैं। ये प्रत्यक्ष-प्रमाण से सिद्ध हैं अतः इन्हें विज्ञान से व अन्य किसी प्रमाण से सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं है। इसलिये त्रस जीवों की जो विशेषताएँ जैनदर्शन में बतलायी गयी हैं, उन्हीं का यहाँ वर्णन किया जा रहा है।

जैनदर्शन में क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, भय, रति-अरति, शोक, जुगुप्सा, सुरक्षा आदि वृत्तियां-प्रवृत्तियां जिस प्रकार मनुष्यों में

हैं, उसी प्रकार पशु, पक्षी, कीट पतंग आदि अन्य जीवों में भी मानी गई हैं। चींटी और मधुमक्खी की संग्रहवृत्ति, कबूतर की भोगवृत्ति, चीते की छलवृत्ति, कुत्ते की स्वामीभक्ति, भेड़ की सहनशक्ति, गौ की सरलवृत्ति, वानर की वात्सल्यवृत्ति, बया की कलाकृति आदि त्रस जीवों की उपर्युक्त सत्य वृत्तियों-प्रवृत्तियों से तो आप सब परिचित ही हैं। अतः उन्हें यहाँ पर दोहराना निरर्थक है। यहाँ केवल संकेत रूप में वनस्पति-विषयक उन्हीं बातों को प्रस्तुत किया जा रहा है, जिनके आधार पर मनुष्य अपने को वैज्ञानिक कहलाने में गौरव का अनुभव करता है।

मनुष्य ने वैज्ञानिक आविष्कारों द्वारा वायुयान, मोटरकार, राडार, टेलीविजन आदि सुख-सुविधा व सुरक्षा सम्बन्धी सैकड़ों वस्तुओं का निर्माण किया है और इनसे अपनी उन्नति व उत्कर्ष का गर्व करता है, परन्तु पशु, पक्षी, कीट पतंग आदि अन्य त्रस व स्थावर जीवों में भी ये सब बातें प्रकृति से ही विद्यमान हैं, उदाहरणार्थ प्रथम सुरक्षा को ही लें—

कंटक कवच—युद्ध क्षेत्र में सैनिक अपनी सुरक्षा के लिये काँटेदार तारों का उपयोग करते हैं। कीटाणुओं में कैटरपिलर और जानवरों में साही अपनी त्वचा पर लगे कांटों से अपनी रक्षा करते हैं। खरगोश की आकृति के इस पशु के शरीर पर काँटे ही काँटे होते हैं। इन काँटों की लम्बाई चौदह इंच तक होती है। जिन्हें काँटे क्या तार ही कहना चाहिये। यह अपने शत्रु पर सामने से आक्रमण नहीं करती है। तेजी से उल्टे पांव लौटकर अपने काँटे फैलाकर शत्रु के शरीर में उन्हें चुभा कर आगे बढ जाती है। शत्रु के शरीर में घुसते ही ये काँटे साही के शरीर से सहज ही में अलग हो जाते हैं और शत्रु भयंकर पीड़ा से कराहता खड़ा का खड़ा रह जाता है। यदि सिंह भी साही से लड़ने आये तो यह सही है कि सिंह ही हारे, साही नहीं। इसके लिये काँटे कवच का काम करते हैं।

राडार मछली—युद्ध क्षेत्र में राडार का बड़ा महत्त्व है, परन्तु चमगादड़ इसका उपयोग प्रकृति से ही कर रहा है। उसके कान के नीचे एक छेद होता है जो प्रतिध्वनि को ग्रहण करता है। जिससे उसको घोर अन्धकार में स्थित वृक्ष व वस्तुओं के अस्तित्व का बिना देखे ही ज्ञान होता है और वह उनसे टकराने से अपने को बचा लेता है। डाल्फिन मछली भी अपने शरीर से ध्वनि की लहरें निकालती है। ये लहरें समुद्र में स्थित दूसरे जीवों से टकराकर वापस आती हैं, जिससे डाल्फिन जान लेती है कि उसके निकटवर्ती क्षेत्र में उसके कौनसे शत्रु-मित्र हैं।

टेलीफोन-खरगोश—पशु टेलीफोन का भी उपयोग करते है। काटन टेल (खरगोश) अपने शत्रु को देखते ही पिछली टांगें भूमि पर जोर-जोर से मारने लगता है, जिससे ध्वनि निकलती है जो भूमि के भीतर चारों तरफ फैल जाती है। जिससे दूसरे खरगोशों को संकट की जानकारी मिल जाती है, इस प्राकृतिक टेलीफोन से प्रसारित सन्देश को सुनकर अन्य पशु भी सावधान हो जाते हैं।

जेट-झींगा—सुरक्षा में जेट वायुयान का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। इस वायुयान में प्रयुक्त सिद्धान्त "सी ऐरो" जीव अपनी सुरक्षा के लिये उपयोग करते हैं। यह झींगे से मिलती-जुलती आकृति का समुद्री जीव है, जो अपने शरीर के पिछले भाग में बहुत सा जल भर लेता है तथा शत्रु से बचने या शिकार को पकड़ने के लिये अपने पूरे शरीर को जोर से दबाता है इस दबाव से शरीर में संचित जल एक बारीक छिद्र से तेज धार के रूप में बाहर निकलता है। इस धार के कारण यह जल में बहुत तेज गति से विरोधी दिशा में बढ़ता है।

विद्युत मछली—विद्युत शक्ति का विज्ञान के क्षेत्र में बड़ा महत्त्व है। उत्तरी अमेरिका की नदियों में सर्प के आकार की ईल मछली होती है, जो संकट के समय एक मिनट में कई बार पाँच सौ वोल्ट से भी अधिक विद्युत छोड़ सकती है। जबकि हम घरों में जो विद्युत

जलाते हैं वह दो सौ बीस वोल्ट शक्ति की होती है।

एरियल एडमिरल—रेडियो और टेलीविजन में एरियल या एन्टीना का उपयोग होता है। एडमिरल तितली जो लाल रंग की होती है, उसके सिर पर सींग के जैसे दो अंग होते हैं। ये अंग वही काम करते है, जो एरियल करता है।

कटार टिर्गर—सुरक्षा के लिये लोग चाकू, छुरी आदि रखते हैं, इसी प्रकार टिर्गर मछली भी अपने सिर में लगी हुई छुरी का उपयोग करती है। जब कोई समुद्री जीव उस मछली को निगलने की चेष्टा करता है तो यह मछली सिर में स्थित छुरी को बड़ी शक्ति से बाहर निकालती है। तेज और नुकीली छुरी उस आक्रमणकारी जीव का गला काट देती है। यह छुरी इतनी मजबूत होती है कि नावों के पेंदों में भी छेद कर देती हैं।

विषदर्शी-मक्खी—बिच्छू, मधुमक्खियाँ अपने दंश को शत्रु के शरीर में प्रवेश कर अपना विष छोड़ती है, जो शत्रु के शरीर में फैल-कर सारे शरीर में पीड़ा उत्पन्न कर देता है। मानव ने इसी से शिक्षा ग्रहण कर सुई में दवा भरकर शरीर में इन्जेक्शन लगाना सीखा है।

शिकारी हेरी-हुदहुद—हेरी हुदहुद जाति का एक पक्षी है जो शिकार करते समय बरछे का उपयोग करता है। उसकी लम्बी और नुकीली जीभ पर कांटे-से होते हैं। यह वृक्ष के खोह में किसी कीड़े को देखता है तो यह अपनी लम्बी जीभ को तेजी से फेंकता है, जीभ उस कीड़े के शरीर में गड़ जाती है, फिर वह अपनी जीभ मुँह में खींच लेता है। जीभ के साथ कीड़ा भी मुँह में आ जाता है और पेट में चला जाता है।

गैस चालक स्कंक—जिस प्रकार पुलिस उपद्रवी भीड़ को भगाने के लिये अश्रुगैस छोड़ती है, उसी प्रकार स्कंक भी संकट के समय अश्रु-गैस का उपयोग करता है। इस जीव का आकार चूहे जैसा, शरीर से

कुछ बड़ा, रंग काला, चेहरा चमगादड़ से मिलता-जुलता होता है। उसके शरीर में अश्रुगैस पैदा करने वाली ग्रन्थियाँ होती हैं। स्कंक अपने शत्रु को भगाने के लिये अपनी ग्रन्थियों से अश्रुगैस छोड़ता है, जिनका प्रभाव दस फुट दूर तक पड़ता है। इस गैस से शत्रु को कुछ समय तक कुछ भी नहीं दिखाई देता है। तब तक स्कंक भागकर शत्रु की पकड़ के बाहर चला जाता है। इसी से मिलता-जुलता प्रयोग दीमक भी करता है। जब दीमक की बस्ती में चीटियाँ घुस जाती हैं तो नगर की रानी सैनिक दीमक को रक्षा का आदेश देती है। सैनिक दीमकों के सिर पर पिचकारी की आकृति की ग्रन्थि होती है, जिससे वे शत्रु पर एक विषैला पदार्थ फेंकते हैं, जो शत्रु को आगे बढ़ने से रोक देता है।

बख्तरबन्द कछुआ—मनुष्य शत्रु के आक्रमण से अपने बचाव के लिये ढाल का उपयोग करता आया है। अब युद्ध के समय अपने को टैंकों और बख्तरबन्द गाड़ियों में छिपाकर भी सुरक्षा करता है। कछुआ भी इसी प्रकार अपना बचाव ढाल के आकार-प्रकार की अपनी पीठ से करता है और संकट के समय अंगों को समेट कर अपने आपको उसमें छिपाकर अपनी सुरक्षा करता है। ढाल के आकार व उस पर बने चिह्नों में इतनी अधिक समानता है कि ढाल और कछुओं की पीठ में से एक को देखते ही दूसरे का स्मरण हो जाता है।

पनडुब्बी ह्वेल—समुद्री युद्ध में पनडुब्बी का अपना महत्त्व है। पनडुब्बी को जल के दबाव से सुरक्षित रखने के लिये विशेष प्रकार के प्रयत्न किये जाते हैं। इसी प्रकार विलो ह्वेल मछली गहरे जल में अपने को छिपाकर साठ किलोमीटर प्रति घण्टे से तैर सकती है। उसके शरीर और सिर पर चरबी की एक मोटी परत होती, जो उसके तापमान को सन्तुलित रखती है तथा जल के दबाव से बचाती है।

गैसमास्क मेंढक—गोताखोर जल में गोता लगाते समय आंख

पर एक विशेष प्रकार का ऐनक लगाते हैं, जिससे चारों ओर से सब वस्तुएँ देखी जा सकती हैं। इसी प्रकार मेंढक की आँखों पर दो पलकों के अतिरिक्त एक तीसरी पलक और होती है, जिससे वह प्रत्येक वस्तु को देख सकता है।

मकड़ी का मायाजाल—मकड़ी अपना मायाजाल बनाने के लिये प्रसिद्ध है। मकड़ी बड़ी मायाविनी होती है, उसकी माया निराली ही होती है। वह रेशम के जैसा महीन और चमकदार सूत बनाती है जिससे वह नदी के एक ओर से दूसरे छोर तक झूलने वाला पुल बना कर इंजीनियरों को भी चकित कर देती है वह थलचर होकर भी गहरे जल में जाल फैलाती व अण्डे देती है।

मकड़ी के सूत की उत्पत्ति उसके शरीर के पिछले भाग की थैली से होती है। थैली पर चलनी के समान रोम (छिद्र) होते हैं जिनसे उसके शरीर में स्थित रेशम कोषों से रेशम बाहर निकलता है। उस रेशम के धागों से वह अपना जाल बनाती है, वह जाला जाल का काम करता है।

छोटे-छोटे कीड़े मकड़ी के मायाजाल से आकृष्ट हो उस पर नृत्य करने आते हैं तो जाले के लस्सेदार सूत पर पैर रखते ही फँस जाते हैं। यदि कीड़ा बड़ा हुआ और जाले को झटका देने लगता है तो मकड़ी अपने विषैले दंश से उसे मृत्यु के मुख में पहुँचा देती है।

कपटी कोयल—कोयल का कपट तो विख्यात ही है। वह अपने अण्डे कौए के घोंसले में दे आती है, जिनसे निकले बच्चों को कौआ अपने समझकर पालते-पोसते हैं।

जेबधारी कंगारु—आस्ट्रेलिया में कंगारु पशु पाया जाता है। इसके पेट में जेब जैसी एक थैली होती है। संकट के समय अपने बच्चे को बचाने के लिये यह उसे जेब में डाल कर भाग जाता है। चिपमक्स उत्तरी अमरीका में एक गिलहरी होती है, जिसके दोनों

गालों में इतनी बड़ी जेबें होती हैं कि वह अपने सिर से भी बड़े अखरोट उनमें छिपा सकती है।

वास्तुशिल्पी शकुनी—भवन निर्माण में भी पक्षी मानव से अधिक चतुर है। बयापक्षी का तिनकों से बना हुआ बहु मंजिला घोंसला, कन्हैया पक्षी का छत के पेंदे पर उल्टा लटकता मिट्टी का घर, कठफोड़वा व हुदहुद पक्षियों के लकड़ी में वृत्ताकार बने बहुद्वार वाले भवन उनकी विलक्षण मति एवं श्रुतज्ञान के द्योतक हैं।

भारवाही चींटिया—शारीरिक सामर्थ्य की दृष्टि से त्रीन्द्रिय जैसे क्षुद्रप्राणी मानव को भारोत्तलन प्रतियोगिता में पीछे छोड़ते है। एक क्विन्टल वजन वाला संसार का कोई भी व्यक्ति अपने से तेरह सौ गुना अर्थात् तेरह सौ क्विन्टल वजन उठाने की कल्पना भी नहीं कर सकता है, परन्तु चींटियाँ अपने शरीर से तेरह सौ गुना वजन उठा सकती हैं।

समाधिधारी सर्प—मेंढक आदि अगणित जीव शीत व ग्रीष्म ऋतु में भूमि की दरारों में नीचे जाकर अपने को छिपा लेते हैं और बिना अन्न-जल लिये सात-आठ मास बिता लेते हैं। फिर जैसे ही वर्षा का जल पहुँचता है, सक्रिय होकर भूमि पर आ जाते हैं। मानव इतने लम्बे समय तक बिना अन्न-जल के एवं बिना हिले-डुले नहीं रह सकता।

गति का धनी गरुड़—गति में भी पक्षी मनुष्य से बहुत आगे है। अबाबील डेढ सौ किलोमीटर प्रति घण्टे से उड़ती देखी जाती है। शिकारी बाजों की गति तीन सौ कि.मी. प्रति घण्टे तक पायी गयी है। प्रयास करने पर भी इनकी गति दो सौ कि.मी. से कम नहीं होती है। मक्खी चार सौ मीटर की दौड़ एक सैकण्ड से भी कम समय में पूरी कर सकती है। जबकि विश्व के सर्वश्रेष्ठ धावक मानव को ४४:५ सैकिण्ड लगते हैं।

वार्तालाप पशु-पक्षियों का—जैन दर्शन के अनुसार सब त्रसकाय जीवों में भाषा का प्रयोग होता है। खोज से पता चला है कि छोटे-छोटे कीड़े कई प्रकार से आपस में बातें करते हैं। चींटियाँ खट-खटाने जैसी बहुत धीमी आवाज पैदा करती है तथा कुछ चींटियाँ अपना मुँह से मुँह मिलाकर अपनी बात कहती है। दीमक और तिलचट्टे भी इसी प्रकार अपनी बात कहते हैं। तितलियाँ और पतंगे गन्ध के माध्यम से अपना सन्देश कहते हैं। जिराफ और लामा को पहले गूँगा माना जाता था, परन्तु विशेषज्ञों ने सूक्ष्मता से जांच की तो ज्ञात हुआ कि इतने विशालकाय पशु बहुत ही धीमी सीटी जैसी आवाज में बात करते हैं। बन्दरों की तो पूरी अपनी भाषा है।

विलक्षणज्ञानी पक्षी—जैन दर्शन मनुष्य के समान अन्य जीवों में भी मति व श्रुत ज्ञान मानता है। देखा जाता है कि बहुत-सी बातों में मनुष्यों से पक्षी आगे है। साइबेरिया के पक्षी सर्दी की ऋतु प्रारम्भ होने पर हजारों मील उड़कर भारत में भरतपुर की झील में आते हैं, तथा कुछ पक्षी हजारों मील के सागर को पार कर दक्षिण ध्रुव में पहुँचते है और ग्रीष्म ऋतु में पुनः अपने निवास स्थान पर लौट आते हैं। जबकि मार्ग में हजारों मीलों तक महासागर में जल होने से मार्गदर्शक कोई निशान नहीं होते हैं। यह उनके ज्ञान की विलक्षणता ही है।

कुत्तों को किसी गाड़ी में बन्द कर मीलों दूर छोड़ दिया जाय तो भी वे पुनः उसी मार्ग से वापस आ जाते हैं, जिस मार्ग से उन्हें ले जाया गया है। यद्यपि ले जाते समय वह मार्ग उन्होंने नहीं देखा हैं।

पशु, पक्षी सेवाभावी और स्वामी भक्ति में भी मानव से आगे बढ़ते देखे जाते हैं। गायें, कुत्ते, अपने स्वामी की रक्षा के लिये प्राण तक दे देते हैं।

वैक्रिय रूपधारी गिरगिट—त्रसकाय जीवों में जैन दर्शन में वैक्रिय

अर्थात् रंग-रूप बदलने वाला शरीर माना गया है। गिरगिट जैसा वातावरण देखता है, वैसा ही अपना रंग रूप बना लेता है। बादलों को देखते ही बादली रंग के कोट-पेंट पहनते उसे देर नहीं लगती है। दिन में अनेक बार अपने रंग बदलता ही रहता है। उसका यह रंग बदलाव इतना अधिक प्रसिद्ध है कि वातावरण को देखकर बातें या वृत्ति-प्रवृत्ति बदलने वाले मानव को गिरगिट की उपमा दी जाती है।

बुद्धिमत्ता—कठ फोड़वा पक्षी पेड़ को काटकर एवं कुतरकर अपना घर बनाता है, परिवार बसाता है तथा बरसात में भी सुरक्षित रहता है।

बया पक्षी पेड़ की शाखा पर उलटा लटकता घर बनाकर उसमें अण्डों व बच्चों को रखता है, फिर भी वे नीचे नहीं गिरते हैं, यह आश्चर्य की बात है। परन्तु इससे अधिक आश्चर्य की बात 'कन्हैया' नाम की काली चिड़िया के घर बनाने कला की है। यह चिड़िया अपना घर छत के नीचे वाले अधर भाग पर मिट्टी से बनाती है, तिनके व धागे से किंचित् भी जुड़ा न होने पर भी मिट्टी के इस घर का नीचे न गिरना बड़ी विचित्र बात है।

ह्वेल मछली अपनी साथी मछलियों की सेवा-सुश्रुषा पारिवारिक जनों के रूप में करती है।

ध्रुव प्रदेश पर रहने वाले पेंगुइन नरपक्षी दो माह तक कुछ भी खाये-पीये बिना अण्डों व बच्चों की देखभाल करते हैं।

नेवला विषैले सर्प के काटे जाने पर एक विशेष प्रकार की जड़ी को चबाता है, जिसके प्रभाव से वह विषमुक्त हो जाता है।

इसी प्रकार जैन दर्शन में वर्णित त्रसकाय जीवों में अन्य विशेषताओं को भी प्रस्तुत किया जा सकता है परन्तु ग्रन्थ विस्तार के भय से यहाँ पर विराम दिया जा रहा है।

विशेष जानकारी हेतु "मुनि श्री हजारीमल स्मृति ग्रन्थ" पुस्तक में "जैनदर्शन और विज्ञान" लेख पृष्ठ सं. ३३५ पर देखा जाना चाहिये। स्थावर एवं त्रस जीवों के उद्योत नाम कर्म की चर्चा यहां की जा रही है।

उद्योत नाम कर्म

कर्म को १२२ उदीयमान प्रकृतियों में से तिर्यञ्च गति में १०७ प्रकृतियों का उदय माना है, उनमें उद्योत नाम कर्म प्रकृति भी है, जिसका अर्थ है शरीर से प्रकट होने वाला शीतल प्रकाश[1]। तिर्यञ्च गति में एकेन्द्रिय वनस्पति आदि से लेकर पंचेन्द्रिय तक के पशु-पक्षी आदि जीव सम्मिलित है। इसका आशय यह है कि एकेन्द्रिय जीव वनस्पति आदि से लेकर पंचेन्द्रिय तक ऐसे जीव भी पाये जाते है, जिनके शरीर से ऐसा प्रकाश निकलता है, जो उष्ण नही है। पहले साधारणतः जुगनू को ही ऐसा जीव माना जाता था, परन्तु अब जीव विज्ञान की खोज ने एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय व पचेन्द्रिय में उद्योत प्रकट करने वाले जीव हैं, ऐसा सिद्ध कर दिया है।

जीव-विज्ञान में जिन जीवों से प्रकाश उत्सर्जन होता है, उन्हें 'प्रदीपीजीव' कहते है तथा ऐसे प्रकाश को 'जीव-संदीप्ति' कहा जाता है। प्रकाश उत्सर्जित करने की क्षमता केवल जुगनू में ही नहीं, अनेक जीवों में होती है जिनमें पौधे और जन्तु दोनों आते हैं। प्रदीपीजीवों में कुछ विशिष्ट प्रकार के जीवाणु, कवक, स्पन्ज, कोरस, फलेजिलेट, रेडियो-लेरियन, घोंघे, कनखजूरे, कानसलाई या गोवारी (मिलीपीड) अनेक प्रकार के कीट तथा अधिक गहराई में पाई जाने वाली समुद्री मछलियाँ आदि की गणना होती है।[2]

उपर्युक्त जीवों में एकेन्द्रिय (वनस्पति आदि) से लेकर पंचेन्द्रिय

---

१ गोम्मटसार, कर्म काण्ड गाथा।

२ विज्ञान-प्रगति, अंक २९२, पृष्ठ ३२६।

तक के जीवों का समावेश हो जाता है। कवक व बैक्टीरिया वनस्पति आदि के एकेन्द्रिय जीव हैं। जब पेड़ों की सड़ी-गली शाखाओं-प्रशाखाओं पर प्रदीपी कवक और बैक्टीरिया जग जाते हैं तो वृक्ष प्रकाशमय दिखाई देने लगते हैं। महाकवि कालिदास ने अपनी रचनाओं में वृक्षों से प्रकाश निकलने की बात कही है। यह इन्हीं कवकों और बैक्टीरिया जीवों का परिणाम हो सकती है। कभी कभी गोश्त और मृत मछली के शरीर से प्रकाश निकलता देखा जाता है, वह भी यहाँ पर बैक्टीरिया उगने का ही परिणाम समझना चाहिये।

कुकुरमुत्ता जाति की लगभग पचास प्रदीपी वनस्पतियाँ प्रकाश में आयी हैं। कुछ छत्रधारी कुकुरमुत्तों के छाते चमकते हैं, कुछ के उत्पादक अंग अर्थात् बीजाणु चमकते हैं। अमरीका में पाँच इंच से बड़े नाप वाला कलीटोसाइके इल्यडेन्स बड़ा ही चमकदार कुकुरमुत्ता होता है। यह रात्रि को नारंगी प्रकाश देता है, जिससे जंगल जगमगा उठता है। जापान में इसे मूनलाइट प्रकाश अर्थात् चन्द्रिका छत्रक कहा जाता है। चित्त भ्रान्ति कारक दवा "सीलो साइबिन" ऐसे ही प्रकाशमय कुकुरमुत्ते "सीलोननाइबे" से बनायी जाती है।

न्यूजीलैण्ड की कुछ गुफाएँ प्रकाश से जगमगाती रहती है। यह प्रकाश ग्लोवर्म-लार्वा के शरीर से प्रकट होता है। ये लार्वा हजारों की संख्या में गुफा की छत पर रेंगते रहते हैं। इनके शरीर से एक लम्बा प्रदीपी धागा लटका रहता है। जब कोई गुफा से आवाज करता है या गुफा की दीवारों को थपथपा देता है तो सभी लार्वा एक साथ प्रकाश निकालना बंद कर देते हैं और गुफा में अन्धेरा हो जाता है। वहीं एक कृमि-कीट "सेटोप्टेरस" पाया जाता है। यह इतना चमकीला होता है कि इसे जल-मछली खा लेती है तो उसका पेट चमकने लगता है।

अमेरिका की चेजपीक खाड़ी में "नाक्टीलूका" नाम का जीव

होता है। 'नाक्टील्यूका' का शाब्दिक अर्थ होता है 'रात्रि का प्रकाश'। ये जीव इतने सूक्ष्म होते हैं कि सूक्ष्मदर्शी यंत्र से दिखाई देते हैं, आँख से नहीं दिखाई देते। परन्तु ये इतनी अधिक संख्या में होते हैं कि खाड़ी का पानी बहुत दूर तक हरे प्रकाश से जगमगाता दिखाई देता है।

हरा प्रकाश प्रकट करने वाले जीवों में 'जेलीफिश' भी एक है। इससे रात के गहरे अन्धेरे में एकाएक तेज हरा प्रकाश फैल जाता है और फिर एकाएक यह अपना प्रकाश निकालना बन्द कर देती है तो गहरा अन्धेरा छा जाता है।

कुछ जन्तु अपने शरीर से नीला प्रकाश छोड़ते हैं। ऐसा ही एक जन्तु जापान के निकट सिप्रिडाइगा समुद्र के तट के जल में पाया जाता है, जो रात्रि में भोजन की खोज में निकलता है। उस समय उसके चारों ओर नीला प्रकाश छा जाता है।

कुछ जन्तु ऐसे होते है जिनके शरीर से दो रंग का प्रकाश निकलता है। ऐसा ही एक जीव "ग्रव" है। यह अमेरिका में पाया जाता है। इसके लार्वा के सिर पर दो चमकीले बिन्दु होते हैं, जिनमें लाल रंग का प्रकाश निकलता है। यह प्रकाश ऐसा लगता है, मानो सिगरेट जल रही हो। लार्वा के दोनों ओर ग्यारह बिन्दु होते हैं जिनसे हरा प्रकाश निकलता है। रात्रि को जब यह लार्वा चलता है, तो उसके सिर पर चमकने वाला लाल प्रकाश इंधन की रोशनी लगती है। इस प्रकार ऐसा प्रतीत होता है, मानो रेल चल रही हो। अतः यह जीव रेल रोड धर्म के नाम से पुकारा जाता है।

कुछ मछलियों के शरीर से इतना प्रकाश निकलता है कि अंधेरे में भी उजाला हो जाता है। इन मछलियों को लालटेन मछली कहते हैं। यह अरब सागर में सबसे अधिक पाई जाती है। ये समुद्र में काफी गहराई में रहतीं हैं। इन मछलियों को "लैक साउथ काडि-

नल" भी कहा जाता है। चांदी की तरह इनका रंग सफेद चमकीला होता है। रात्रि के समय भोजन की तलाश में जब ये मछलियां समुद्र की सतह पर जाती हैं, तब इनका प्रकाश अंधेरे को चीरता हुआ दूर-दूर तक फैल जाता है। ये इतनी अधिक हैं कि विश्व को कुल प्रोटीन के लगभग १५ प्रतिशत भाग की पूर्ति लालटेन मछलियों से होती है।

प्रदीपी जीवों में जुगनुओं की जाति बहुत प्रसिद्ध है। संसार में इनकी लगभग दो हजार उप जातियां हैं। इनकी प्रत्येक जाति का आकार-प्रकार और प्रकाश अलग-अलग होता है। इनका प्रकाश केवल उसी जाति की मादा पहचानती है और वह जुगनू को आकृष्ट करने के लिये हलका-सा प्रकाश उत्सर्जित करती है।

लगभग पचास जुगनुओं में इतना प्रकाश होता है कि उन्हें इकट्ठा करके एक स्थान पर रख दें तो पुस्तक पढ़ी जा सकती है। आदिवासी लोग जुगनुओं को संग्रह करके दीपक का काम लेते हैं। रात्रि में अपने पैरों में जुगनू बांध कर चलते हैं, जिससे उनको मार्ग दिखाई देने लगता है।

जुगनू अपने प्रकाश का उपयोग अनेक प्रकार से करते हैं, यथा—शिकार ढूंढ़ना, उसे अपनी ओर आकर्षित करना, अपने चौकीदार को पास बुलाना आदि। जब मादा नर को पास बुलाने का संकेत करती है तो उसका प्रकाश सत्तर-अस्सी मीटर दूर से दिखाई देता है।

जुगनू के प्रकाश में अल्ट्रा-वायलेट और इंफ्रा-रेड किरणें नहीं होती हैं अतः उसमें उष्णता बिलकुल नहीं होती है और इस प्रकाश की आग शीतल होती है। इसका एक कारण उसमें ल्यूनिफेरिन नामक पदार्थ का होना भी है।

वैज्ञानिक ई. एन. हार्वे ने सन् १६५८ में अपने अनुसंधान से पता

लगाया कि प्रदीपी जीवों में "न्यूसीफेरेस" नामक जो रासायनिक पदार्थ होता है उसका वे जीव अपने जीवन में चाहे कितनी बार उपयोग करें उस प्रकाश का भंडार ज्यों का त्यों बना रहता है। आधुनिक वैज्ञानिकों के अनुसार वनस्पतियों और जीवों को प्रकाशमय बनाने वाला रासायनिक पदार्थ एडीनोमाइन ड़ाई फास्फेट है, जिसका संक्षिप्त नाम ए. टी. पी. है।

अमरीका में स्थित ओकरिज प्रयोगशाला के वैज्ञानिकों का कथन है कि ए. टी. पी. के कारण सभी पौधे न्यूनाधिक चमकते हैं। फिर अनुसंधान से पता चला कि हरे पौधे के अर्क में से ए. टी. पी. निकाल दिया जाए तब भी उसमें प्रकाश बना रहता है और इस अक्षय प्रकाश की उत्पत्ति क्लोरोफिल से होती है। सभी हरे पौधों में विद्यमान इस प्रकाश को चर्म-चक्षुओं से नहीं देखा जा सकता है। इसके लिये विशेष प्रकार के यंत्रों का उपयोग करना होता है।

आशय यह है कि वर्तमान जीव-विज्ञान की खोज ने इस तथ्य को उद्घाटित कर दिया है कि एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक के तिर्यञ्चों में उद्योत नाम कर्म का अस्तित्व पाया जाता है। जिन प्राणियों में यह ठंडा प्रकाश पाया जाता है, उनके जीवन-निर्वाह के लिये यह अति उपयोगी होता है। इसलिये इसे पुण्य प्रकृतियों में गिनाया गया है।

जीव में लेश्या, ज्ञान व दर्शन गुण होते हैं। आगे इन्हीं का क्रमशः विवेचन किया जा रहा है।

लेश्या

जैन दर्शन 'मन' को आत्मा से भिन्न अनात्म, जड़ और एक विशेष प्रकार के पुद्गलों (मनोवर्गणा के द्रव्यों) से निर्मित पदार्थ मानता है तथा उसमें उन गुणों को स्वीकार करता है जो पुद्गल में विद्यमान हैं, अर्थात् मन को भी पुद्गल की भांति वर्ण, आकार व

शक्ति युक्त मानता है। आगमों में मन के विभिन्न स्तरों का वर्गीकरण लेश्याओं के रूप में किया गया है। लेश्याएँ ६ प्रकार की होती हैं—(१) कृष्ण लेश्या (२) नील लेश्या (३) कापोत लेश्या (४) पीत (तैजस्)लेश्या (५) पद्म लेश्या और (६) शुक्ल लेश्या। ये क्रमशः (१) अशुभतमभाव (२)अशुभतरभाव (३) अशुभभाव (४) शुभ-भाव (५) शुभतरभाव (६) शुभतम भाव की अभिव्यंजक हैं।

अत्यन्त महत्त्व की बात तो यह है कि लेश्याओं का नामकरण काले, नीले, कबूतरी, पीले, हलके गुलाबी, शुभ्र आदि रंगों के आधार पर किया गया है। यह इस बात का स्पष्ट द्योतक है कि किस प्रकार के विचारों से किस प्रकार की मनोवर्गणाएँ उत्पन्न होती हैं। अतीव हिंसा, क्रोध, क्रूरता आदि अशुभतम भाव कृष्ण लेश्या के अन्तर्गत होते हैं। इन भावों से कृष्ण वर्ण की मनोवर्गणाएँ पैदा होती हैं और ये लेश्यावाले व्यक्ति के चारों ओर बादलों के समान फैल जाती हैं। इसी प्रकार अशुभतर, अशुभ, शुभ, शुभतर, शुभतम भावों से नीले, कबूतरी, पीले, हलके गुलाबी, शुभ्र वर्ण की मनोवर्गणाओं के मेघों के समुदाय में न केवल वर्ण ही होता है अपितु आकार एवं शक्ति भी होती है। विचारों में रंग, आकार, शक्ति होती है, इस तथ्य को पेरिस के प्रसिद्ध डाक्टर बेरडक ने यंत्रों की सहायता से प्रत्यक्ष दिखाया है। उन्होंने विचारों से आकाश में जो चित्र बनते हैं उन चित्रों के एक विशेष यंत्र से फोटो भी लिए हैं। यथा—

एक लड़की अपने पाले हुए पक्षी की मृत्यु पर विलाप कर रही थी। उस समय के विचारों की फोटो ली गई तो मृत पक्षी का फोटो पिंजड़े सहित प्लेट पर आ गया। एक स्त्री अपने शिशु के शोक में तल्लीन बैठी थी। उसके विचारों का फोटो लिया गया तो मृत बच्चे का चित्र प्लेट पर उतर आया, आदि आदि।

श्री बेरडुक का कथन है कि जैसा संकल्प होता है उसका वैसा ही आकार होता है और उसी के अनुसार उस आकृति का रंग भी होता

है। आकाश में संकल्प द्वारा नाना रूप बनते हैं। इन रूपों की बाह्य रेखा की स्पष्टता-अस्पष्टता संकल्पों की तीव्रता के तारतम्य पर निर्भर है। रंग विचारों का अनुसरण करते हैं; यथा—प्रेम एवं भक्ति-युक्त विचार गुलाबी रंग, तर्क-वितर्क पीले रंग, स्वार्थ-परता हरे रंग तथा क्रोध लालमिश्रित काले रंग के आकारों को पैदा करते हैं। अच्छे विचारों के रंग बहुत सुन्दर और प्रकाशमान होते हैं, उनसे रेडियम के समान ही सदैव तेज निकला करता है। (देखिये—"संकल्पसिद्धि—विचारों के रूप और रंग"।)

जैन शास्त्रों में एक अन्य लेश्या का भी वर्णन मिलता है। उसे तेजोलेश्या कहा गया है। आगमों में इसकी प्राप्ति हेतु तपश्चर्या की एक विशेष विधि बतलाई गई है। तेजोलेश्या विद्युतीय शक्ति के समान गुण-धर्मवाली होती है। इसके दो रूप हैं[1]—एक उष्ण तेजोलेश्या और दूसरी शीतल तेजोलेश्या। अणु या विद्युत् शक्ति के समान यह भी दो प्रकार से प्रयोग में लाई जाती है। इसका एक प्रयोग संहारात्मक है और दूसरा प्रयोग संरक्षणात्मक। प्रथम प्रयोग में प्रयोक्ता अपने मनोजगत् से उष्णता स्वभाव वाली उष्ण तेजोलेश्या की विद्युतीय शक्ति का प्रक्षेपण करता है जो विस्तार को प्राप्त हो अंग, वंग, मगध, मलय, मालव आदि सोलह देशों का संहार(भस्म) करने में समर्थ होती है।[2] दूसरे प्रयोग में प्रयोक्ता शीतल स्वभाववाली शीतल तेजोलेश्या की शक्ति का प्रयोग कर प्रक्षेपित उष्ण तेजोलेश्या के दाहक स्वभाव को शून्यवत् कर देता है।

उष्ण तेजोलेश्या का प्रयोग गोशालक ने भगवान् महावीर पर

---

१ भगवती-शतक १५

२ सोलसण्हं जणवयाणं तंजहा-अंगाणं, वंगाणं; मगहाणं, मालवगाणं, अच्छाणं वच्छाणं, कोच्छाणं, पाढाणं, लाधाणं, वज्जीणं, मोलीणं, कासीणं, कोसलाणं, अवाहाणं, समुत्तराणं घाताए, वहाए उच्छादणट्ठाए भासीकरणयाए। —भगवती शतक १५

शक्ति युक्त मानता है। आगमों में मन के विभिन्न स्तरों का वर्गीकरण लेश्याओं के रूप में किया गया है। लेश्याएँ ६ प्रकार की होती हैं— (१) कृष्ण लेश्या (२) नील लेश्या (३) कापोत लेश्या (४) पीत (तैजस्)लेश्या (५) पद्म लेश्या और (६) शुक्ल लेश्या। ये क्रमशः (१) अशुभतमभाव (२)अशुभतरभाव (३) अशुभभाव (४) शुभ-भाव (५) शुभतरभाव (६) शुभतम भाव की अभिव्यंजक हैं।

अत्यन्त महत्त्व की बात तो यह है कि लेश्याओं का नामकरण काले, नीले, कबूतरी, पीले, हलके गुलाबी, शुभ्र आदि रंगों के आधार पर किया गया है। यह इस बात का स्पष्ट द्योतक है कि किस प्रकार के विचारों से किस प्रकार की मनोवर्गणाएँ उत्पन्न होती हैं। अतीव हिंसा, क्रोध, क्रूरता आदि अशुभतम भाव कृष्ण लेश्या के अन्तर्गत होते हैं। इन भावों से कृष्ण वर्ण की मनोवर्गणाएँ पैदा होती हैं और ये लेश्यावाले व्यक्ति के चारों ओर बादलों के समान फैल जाती हैं। इसी प्रकार अशुभतर, अशुभ, शुभ, शुभतर, शुभतम भावों से नीले, कबूतरी, पीले, हलके गुलाबी, शुभ्र वर्ण की मनोवर्गणाओं के मेघों के समुदाय में न केवल वर्ण ही होता है अपितु आकार एवं शक्ति भी होती है। विचारों में रंग, आकार, शक्ति होती है, इस तथ्य को पेरिस के प्रसिद्ध डाक्टर बेरडक ने यंत्रों की सहायता से प्रत्यक्ष दिखाया है। उन्होंने विचारों से आकाश में जो चित्र बनते हैं उन चित्रों के एक विशेष यंत्र से फोटो भी लिए हैं। यथा—

एक लड़की अपने पाले हुए पक्षी की मृत्यु पर विलाप कर रही थी। उस समय के विचारों की फोटो ली गई तो मृत पक्षी का फोटो पिंजड़े सहित प्लेट पर आ गया। एक स्त्री अपने शिशु के शोक में तल्लीन बैठी थी। उसके विचारों का फोटो लिया गया तो मृत बच्चे का चित्र प्लेट पर उतर आया, आदि आदि।

श्री बेरडुक का कथन है कि जैसा संकल्प होता है उसका वैसा ही आकार होता है और उसी के अनुसार उस आकृति का रंग भी होता

है। आकाश में संकल्प द्वारा नाना रूप बनते हैं। इन रूपों की वाह्य रेखा की स्पष्टता-अस्पष्टता संकल्पों की तीव्रता के तारतम्य पर निर्भर है। रंग विचारों का अनुसरण करते हैं; यथा—प्रेम एवं भक्ति-युक्त विचार गुलावी रंग, तर्क-वितर्क पीले रंग, स्वार्थ-परता हरे रंग तथा क्रोध लालमिश्रित काले रंग के आकारों को पैदा करते हैं। अच्छे विचारों के रंग बहुत सुन्दर और प्रकाशमान होते हैं, उनसे रेडियम के समान ही सदैव तेज निकला करता है। (देखिये—"संकल्पसिद्धि—विचारों के रूप और रंग"।)

जैन शास्त्रों में एक अन्य लेश्या का भी वर्णन मिलता है। उसे तेजोलेश्या कहा गया है। आगमों में इसकी प्राप्ति हेतु तपश्चर्या की एक विशेष विधि बतलाई गई है। तेजोलेश्या विद्युतीय शक्ति के समान गुण-धर्मवाली होती है। इसके दो रूप हैं[1]—एक उष्ण तेजोलेश्या और दूसरी शीतल तेजोलेश्या। अणु या विद्युत् शक्ति के समान यह भी दो प्रकार से प्रयोग में लाई जाती है। इसका एक प्रयोग संहारात्मक है और दूसरा प्रयोग संरक्षणात्मक। प्रथम प्रयोग में प्रयोक्ता अपने मनोजगत् से उष्णता स्वभाव वाली उष्ण तेजोलेश्या की विद्युतीय शक्ति का प्रक्षेपण करता है जो विस्तार को प्राप्त हो अंग, वंग, मगध, मलय, मालव आदि सोलह देशों का संहार (भस्म) करने में समर्थ होती है।[2] दूसरे प्रयोग में प्रयोक्ता शीतल स्वभाववाली शीतल तेजोलेश्या की शक्ति का प्रयोग कर प्रक्षेपित उष्ण तेजोलेश्या के दाहक स्वभाव को शून्यवत् कर देता है।

उष्ण तेजोलेश्या का प्रयोग गोशालक ने भगवान् महावीर पर

---

१ भगवती-शतक १५

२ सोलसण्हं जणवयाणं तंजहा-अंगाणं, वंगाणं; मगहाणं, मालवगाणं, अच्छाणं वच्छाणं, कोच्छाणं, पाढाणं, लाथाणं, वज्जीणं, मोलीणं, कासीणं, कोसलाणं, अवाहाणं, समुत्तराणं घाताए, वहाए उच्छादणट्ठाए भासीकरणयाए। —भगवती शतक १५

किया था। फलतः भ. महावीर के दो शिष्य भस्म हो गये और स्वयं सर्वसमर्थ भ. महावीर को भी अतिसार रोग हो गया जिससे भ. महावीर छः मास तक पीड़ित रहे। इस शक्ति के प्रयोग के विषय में श्रमण कालोदायी भ. महावीर से पूछता है और भगवान् सविस्तार उत्तर देते हैं—अहो कालोदायि ! क्रुद्ध अनगार से तेजोलेश्या निकलकर दूर गई हुई दूर गिरती है, पास गई हुई पास में गिरती है। वह तेजोलेश्या जहाँ गिरती है, वहाँ उसके अचित्त पुद्‌गल प्रकाश करते यावत् तपते हैं।[1] उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि तेजोलेश्या एक विद्युतीय शक्ति-सी है। इस विषय में विज्ञान की वर्त्तमान उपलब्धियों से आश्चर्य-जनक समानता मिलती है—

"विचार शक्ति की परीक्षा करने के लिए डाक्टर वेरडुक ने एक यंत्र तैयार किया है। एक कांच के पात्र में सुई के सदृश एक महीन तार लगाया है और मन को एकाग्र करके थोड़ी देर तक विचार-शक्ति का प्रभाव उस पर डालने से सुई हिलने लगती है। यदि इच्छा-शक्ति निर्बल हो तो उसमें कुछ भी हलचल नहीं होती। विचार-शक्ति की गति बिजली से भी तीव्र है। पृथ्वी के एक कोने से दूसरे कोने तक एक सैकेंड के १६ वें भाग में १२००० मील तक विचार जा सकता है।"[2]

विचार के समय मस्तिष्क में विद्युत् उत्पन्न होती है और उसका असर भी मिकनातीसी सुई द्वारा नापा गया है। जिस प्रकार यंत्रों द्वारा विद्युत् तरंगों का प्रसारण और ग्रहण होता है और रेडियो, टेलीग्राम, टेलीफोन, टेलीप्रिंटर, टेलीविजन आदि उस विद्युत् को मानव के लिए उपयोगी व लाभप्रद साधन बना देते हैं, उसी प्रकार

---

१ कुद्धस्स अणगारस्स तेउलेस्सा निसड्ढासमाणी दूरं गंता दूरं निपतइ, देसं गंता देसं निपतइ, तहिं तहिं जं ते अचित्ता वि पोग्गला ओभासंति जाव पभासंति। —भगवती शतक ७ उ. १०

२ देखिये, 'संकल्प सिद्धि' अध्याय विचारशक्ति।

विचार-विद्युत् की लहरों का भी एक विशेष प्रक्रिया से प्रसारण और ग्रहण होता है। इस प्रक्रिया को टेलीपैथी कहा जाता है। यह पहले लिखा जा चुका है कि टेलीपैथी के प्रयोग से हजारों मील दूरस्थ व्यक्ति भी विचारों का आदान-प्रदान व प्रेषण-ग्रहण कर सकते है। भविष्य में यही टेलीपैथी की प्रक्रिया सरल और सुगम हो जनसाधारण के लिए भी महान् लाभदायक सिद्ध होगी, ऐसी पूरी सम्भावना है।

आशय यह है कि अति प्राचीन काल ही से जैन जगत् के मनोविज्ञानवेत्ता मन के पुद्गलत्व, वर्ण, विद्युतीय शक्ति आदि गुणों से भलीभाँति परिचित थे। जबकि इस क्षेत्र में आधुनिक विज्ञानवेत्ता अभी तक भी उसके एक अंश का ही अन्वेषण कर पाये हैं।

ज्ञान

जैनशास्त्रों में ज्ञान का वर्णन करते हुए कहा है—

तत्थ पंचविहं नाणं, सुयं आभिणिबोहियं।
ओहिनाणं तु तइयं मणनाणं च केवलं॥

—उत्तराध्ययन अ. २८ गाथा ४

अर्थात् ज्ञान पांच प्रकार का है—मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यव और केवल ज्ञान। इनमें से मति और श्रुत ज्ञान तो प्रायः सर्वमान्य हैं, परन्तु शेष तीन ज्ञान के अस्तित्व पर अन्य दार्शनिक आपत्तियां उपस्थित करते रहे हैं। लेकिन आधुनिक वैज्ञानिक अन्वेषण ने इनको सत्य प्रमाणित कर दिया है। ज्ञान के स्वरूप का वर्णन करते हुए भगवती सूत्र श. १ उ. ३ में कहा है—अवधि ज्ञान से मर्यादा सहित सकल रूपी द्रव्य, मनःपर्यवज्ञान से दूरस्थ संज्ञी जीवों के मनोगत भाव तथा केवलज्ञान से तीन लोक युगपत् जाना जाता है। इसी विषय पर वैज्ञानिकों के विचार व निर्णय द्रष्टव्य हैं—डॉ. वगार्नेडविगा लिखते

हैं—"पीनियल आई" नामक ग्रन्थि का अस्तित्व मानव मस्तिष्क के पिछले भाग में है। ग्रंथि हमारे मस्तिष्क का अत्यंत सबल रेडियो तन्त्र है जो दूसरों की आंतरिक ध्वनि, विचार और चित्र ग्रहण करती है। इसका विकास होने पर व्यक्ति दुनिया भर के लोगों के मन के भेद जान सकने में समर्थ हो जायेगा। मनुष्य-मनुष्य के बीच कोई दुराव न रह सकेगा। कोई किसी से कुछ छिपाकर नहीं रख सकेगा।"[1] लेखक का यह भी कहना है कि यह शक्ति प्राचीन काल में विद्यमान थी, बाद में लुप्त हो गई तथा डॉ. कर्वे का कथन है—"पांच इन्द्रियों के अतिरिक्त एक छठी इन्द्रिय भी है जो अगम्य है, जिसे हम अतीन्द्रिय भी कह सकते हैं। मनुष्य प्रयत्न करे तो इस छठी इन्द्रिय का विकास हो सकता है। इस इन्द्रिय या शक्ति के कारण हम दूसरों के मन की बात जान सकते हैं।"[2] मन के विचार जानने के अतिरिक्त ऐसे लोग दूर घटी घटना की सूचना भी प्राप्त कर सकते हैं। कुछ वर्षों पूर्व ऐसी बातें करने वालों को लोग मूर्ख मानते थे लेकिन इधर सुप्रसिद्ध विज्ञानवेत्ताओं ने काफी शोधकार्य के पश्चात् इस तथ्य में विश्वास करना आरम्भ कर दिया है। कुछ विद्वानों का विश्वास है कि प्राचीन काल में इस शक्ति का बहुत विकास हुआ था। इसी के समर्थन में एक अन्य वैज्ञानिक का मन्तव्य है—"अनदेखी और अनजानी चीजों के बारे में सही-सही बता देने की ताकत को ही अंग्रेजी में "सिक्स्थ सेंस" अर्थात् छठी सूझ कहते हैं। समय और दूरी की सीमा में ही नहीं बल्कि किसी दूसरे के मन और मस्तिष्क की अभेद्य सीमा के अन्दर भी आप इस सूझ के जरिये आसानी से प्रवेश पा सकते हैं। क्या यह सच है? क्या सचमुच ही ऐसी ताकत किसी में हो सकती है? बात कुछ असम्भव-सी दीखती है। पर है यह सत्य। इससे इनकार नहीं किया जा सकता"।[3]

---

१ नवनीत, अप्रैल, ५३
२ नवनीत, जुलाई, ५५
३ नवनीत, जुलाई, ५२, पृष्ठ ४०

बिना किसी भौतिक माध्यम (रेडियो, तार, टेलीफोन आदि) के हजारों मील दूरस्थ व्यक्ति के साथ केवल मन के माध्यम से विचारों के आदान-प्रदान, प्रेषण-ग्रहण करने की प्रक्रिया को टेलीपैथी कहते हैं। आज टेलीपैथी के विकास में अमरीका और रूस में होड़ है। कुछ समय पूर्व अमेरिका के प्रयोगकर्त्ताओं ने हजारों मील दूर सागर के गर्भ में चलने वाली पनडुब्बियों के चालकों को टेलीपैथी प्रक्रिया से संदेश भेजने में सफलता प्राप्त कर विश्व को चकित कर दिया है। अभिप्राय यह है कि दूरस्थ व्यक्ति के मन के भावों को जानना आज सिद्धांततः स्वीकार कर लिया गया है।

प्रसिद्ध वैज्ञानिक आइन्स्टीन का कथन है कि यदि प्रकाश की गति से अधिक (प्रकाश की गति एक सैकिण्ड में १८६००० मील है) गति की जा सके तो भूत और भविष्य की घटनाओं को भी देखा जा सकता है।

अभिप्राय यह है कि विज्ञान अवधि, मनःपर्यव व केवलज्ञान के अस्तित्व में विश्वास करने लगा है।

दर्शन

जैनागमों में "तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्"[1] अर्थात् तत्त्वों की यथार्थ श्रद्धा को सम्यग्दर्शन कहा है। तत्त्वों की यथार्थ श्रद्धा स्याद्वाद के बिना होना असंभव है। कारण कि स्याद्वाद ही एक ऐसी दार्शनिक प्रणाली है जो तत्त्व के यथार्थ स्वरूप का दिग्दर्शन करती है। प्रत्येक तत्त्व या पदार्थ अनंत गुणों का भंडार है। उन अनन्त गुणों में वे गुण भी सम्मिलित हैं जो परस्पर में विरोधी है फिर भी एक ही देश और काल में एक साथ पाये जाते हैं। इन विरोधी तथा भिन्न गुणों को विचार-जगत् में परस्पर न टकराने देकर उनका समीचीन सामञ्जस्य या समन्वय कर देना ही स्याद्वाद, सापे-

---

१ तत्त्वार्थसूत्र अ. १, सूत्र २

क्षवाद या अनेकांतवाद है। अलबर्ट आइन्स्टीन के सापेक्षवाद (Theory of Relativity) के आविष्कार (जैनागमों की दृष्टि से आविष्कार नही) के पूर्व जैनदर्शन के इस सापेक्षवाद सिद्धांत को अन्य दर्शनकार अनिश्चयवाद, संशयवाद आदि कहकर मखौल किया करते थे। परन्तु आधुनिक भौतिक विज्ञान ने द्वन्द्वसमागम (दो विरोधों का समागम) सिद्धांत देकर दार्शनिक जगत् में क्रान्ति कर दी है।

भौतिक विज्ञान के सिद्धांतानुसार परमाणु मात्र आकर्षण गुण-वाले धनाणु (Proton) और विकर्षण गुण वाले ऋणाणु (Electron) के संयोग का ही परिणाम है। अर्थात् धन और ऋण अथवा आक-र्षण और विकर्षण इन दोनों विरोधों का समागम ही पदार्थरचना का कारण है। पहले कह आये हैं कि जैसे जैनदर्शन पदार्थ को नित्य (ध्रुव) और अनित्य (उत्पत्ति और विनाश युक्त) मानता है उसी प्रकार विज्ञान भी पदार्थ को नित्य (द्रव्य रूप से कभी नष्ट नहीं होने वाला) तथा अनित्य (रूपांतरित होने वाला) मानता है। इस प्रकार दो विरोधी गुणों को एक पदार्थ में एक ही देश और एक ही काल में युगपत् मानना दोनों ही क्षेत्रों में सापेक्षवाद की देन है।

दो रेलगाडियां एक ही दिशा में पास-पास ४० मील और ३० मील की गति से चल रही हैं—तो ३० मील की गति से चलने वाली गाड़ी की सवारियों को प्रतीत होगा कि उनकी गाड़ी स्थिर है और दूसरी गाड़ी ४०-३० = १० मील की गति से आगे बढ़ रही है, जब कि भूमि पर स्थित दर्शक व्यक्तियों की दृष्टि में गाड़ियां ४० मील और ३० मील की गति से चल रही हैं। इस प्रकार गाड़ियों का स्थिर होना व विभिन्न गतियों वाला होना सापेक्ष ही है।

जिस प्रकार स्याद्वाद में 'अस्ति' और 'नास्ति' की बात मिलती है उसी प्रकार 'है' और 'नही' की बात वैज्ञानिक क्षेत्र के सापेक्ष-वाद में भी मिलती है। पदार्थ के तोल को ही लीजिए। जिस पदार्थ

को साधारणतः हम एक मन कहते हैं। सापेक्षवाद कहता है कि यह 'है' भी 'नहीं' भी। कारण कि कमानीदार तुला से जिस पदार्थ का भार पृथ्वी के धरातल पर एक मन होगा वह ही पदार्थ, मात्रा में कोई परिवर्तन न होने पर भी पर्वत की चोटी पर तोलने पर एक मन से कम भार का होगा। पर्वत की चोटी जितनी अधिक ऊँची होगी भार उतना ही कम होगा। अधिक ऊँचाई के कारण ही उपग्रह में स्थित व्यक्ति, जो पृथ्वी के धरातल पर डेढ़-दो मन वजन वाला होता है, वहाँ वह भारहीन हो जाता है। पदार्थ या व्यक्ति का भिन्न-भिन्न स्थानों पर भिन्न-भिन्न वजन का होना अपेक्षाकृत ही है।

दूसरा उदाहरण और लीजिए—एक आदमी लिफ्ट में खड़ा है। उसके हाथ में संतरा है। जैसे ही लिफ्ट नीचे उतरना शुरू करता है वह आदमी उस संतरे को गिराने के लिए हथेली को उलटी कर देता है। परन्तु वह देखता है कि संतरा नीचे नहीं गिर रहा है और उसी की हथेली से चिपक रहा है तथा उसके हाथ पर दबाव भी पड़ रहा है। कारण यह है कि संतरा जिस गति से नीचे गिर रहा है उससे लिफ्ट के साथ नीचे जाने वाले आदमी की गति अधिक है। ऐसी स्थिति में वह संतरा नीचे गिर रहा है और नहीं भी। लिफ्ट के बाहर खड़े व्यक्ति की दृष्टि से तो वह नीचे गिर रहा है परन्तु लिफ्ट में खड़े मनुष्य की दृष्टि से नहीं।

आधुनिक विज्ञान इसी सापेक्षवाद के सिद्धांत (Theory of relativity) का उपयोग कर दिन दूनी और रात चौगुनी उन्नति कर रहा है। सापेक्षवाद न केवल विज्ञान के क्षेत्र में बलिक दार्शनिक, राजनैतिक आदि अन्य सब क्षेत्रों की उलझन भरी समस्याओं को सुलझाने के लिए वरदान सिद्ध हो रहा है। अमेरिका के प्रसिद्ध प्रो. आर्चा, अनेकांत की महत्ता व्यक्त करते हुए लिखते हैं—The Anekant is an important principle of Jain logic, not commonly asserted by the eastern or Hindu logician, which promises much

for world peace through metaphysical harmony.

इसी प्रकार जैन दर्शन के 'कर्मसिद्धांत' और विज्ञान की नवीन शाखा 'परामनोविज्ञान', अणु की असीम शक्ति का आविर्भाव करने वाले विज्ञान की 'अणु-भेदन प्रक्रिया' और आत्मा की असीम शक्ति का आविर्भाव करने वाली 'भेद-विज्ञान की प्रक्रिया' तथा गणित सिद्धांतों में निहित समता व सामञ्जस्य को देखकर उनको देन के प्रति मस्तक आभार से झुक जाता है।

सारांश यह है कि जैनागमों में प्रणीत सिद्धांत इतने मौलिक एवं सत्य हैं कि विज्ञान के अभ्युदय से उन्हें किसी प्रकार का आघात नहीं पहुँचने वाला है, प्रत्युत् वे पहले से भी अधिक निखर उठने वाले हैं तथा विज्ञान के माध्यम से वे विश्व के कोने-कोने में जन-साधारण तक पहुँचने वाले हैं।

विज्ञान-जगत् में अभी हाल ही की आत्मतत्त्वशोध से आविर्भूत आत्म-अस्तित्व की संभावनाएँ एवं उपलब्धियाँ विश्व के भविष्य की ओर शुभ संकेत हैं। विज्ञान की बहुमुखी प्रगति को देखते हुए यह दृढ व निश्चय के स्वर में कहा जा सकता है कि वह दिन दूर नहीं है जब आत्म-ज्ञान और विज्ञान के मध्य की खाई पट जायेगी और दोनों परस्पर पूरक व सहायक बन जायेंगे। विज्ञान का विकास उस समय विश्व को स्वर्ग बना देगा, जिसमें अभाव, अभियोग तथा ईर्ष्या, द्वेष, वैयक्तिक स्वार्थ, शोषण आदि बुराइयाँ न होंगी। मानव का आनंद भौतिक वस्तुओं पर आधारित न होकर प्रेम, सेवा आदि मानवीय गुणों पर आधारित होगा। विज्ञान का विकास आध्यात्मिक क्षेत्र में होगा, इसका समर्थन करते हुए विश्व के महान् वैज्ञानिक डॉ. चार्ल्स स्टाइनमेज लिखते हैं—महानतम[1] आविष्कार आत्मा के क्षेत्र में होंगे। एक दिन मानव-जाति को पुनः प्रतीत हो जायगा कि भौतिक

१ ज्ञानोदय, मवटू. १९५६

वस्तुएँ आनंद नहीं देतीं और उनका उपयोग स्त्री-पुरुषों को सृजनशील तथा शक्तिशाली बनाने में बहुत ही कम है। तब वैज्ञानिक प्रयोगशालाओं को आत्मा और प्रार्थना के अध्ययन की ओर उन्मुख करेंगे। जब वह दिन आयेगा, तब मानव जाति एक ही पीढ़ी में इतनी उन्नति कर सकेगी जितनी आज की चार पीढ़ियाँ भी न कर पायेंगी। आशय यह है भविष्य में आत्मज्ञान और विज्ञान के मध्य की भेद-रेखा मिटकर दोनों परस्पर घुल-मिल जायेंगे। वह दिन विश्व के लिए वरदान सिद्ध होगा। □

अजीव-तत्त्व

धर्म-अधर्म द्रव्य

पूर्व खंड में जैनदर्शन में वर्णित 'जीव-तत्त्व' के विविध पक्षों को विज्ञान की कसौटी पर परखा गया है। अब आगे 'अजीव-तत्त्व' पर वैज्ञानिक दृष्टि से विचार किया जा रहा है। जैनागमों में अजीव के पांच भेद कहे गये हैं यथा—

धम्मो अधम्मो आगासं कालो पुग्गल जंतवो।
एस लोगुत्ति पण्णत्तो जिणेहिं वरदंसीहिं ।।

—उत्तराध्ययन अ. २८ गा. ७

अर्थात्—धर्म, अधर्म, आकाश, काल और पुद्गल ये पांच अजीव द्रव्य तथा एक जीव द्रव्य को मिलाकर कुल छह द्रव्यरूप यह 'लोक' है।

साधारणतया 'धर्म' शब्द कर्त्तव्य, गुण, स्वभाव, आत्म-शुद्धि के साधन व पुण्य अर्थ में तथा 'अधर्म' शब्द दुष्कर्म व पाप अर्थ में प्रयुक्त होता है परन्तु प्रकृत में धर्म-अधर्म ये दोनों ही शब्द इन अर्थों में प्रयुक्त न होकर जैनदर्शन के विशेष पारिभाषिक शब्दों के रूप में प्रयुक्त हुए हैं। ये दोनों ही दो मौलिक अजीव द्रव्यों के सूचक हैं जिनका स्वरूप जैनदर्शन में इस प्रकार है—

दव्वो णं धम्मत्थिकाए एगं दव्वं, खेत्तओ लोगप्पमाणमेत्ते, कालओ न कयावि णासीं न कयावि ण भवइ, ण कयावि न भविस्सइ, भुविं च भवइ य भविस्सइ य धुवे णितिए सासए अक्खए अव्वए अवट्ठिए णिच्चे। भावतो अवन्ने अगंधे अरसे अफासे गुणाओ गमणगुणे य। अधम्मत्थिकाये-अवण्णे एवं चेव नवरगुणओ, गमणगुणे।

—ठाणांग-ठाणा ५ उ. ३ सू. १

अर्थात्—धर्मास्तिकाय द्रव्य से एक, क्षेत्र से लोक प्रमाण, काल

से भूत, भविष्य व वर्तमान इन तीनों कालों में विद्यमान, ध्रुव, नित्य, शाश्वत, अक्षय, अव्यय, अवस्थित; भाव से वर्ण, गन्ध, रस व स्पर्श रहित, गुण से गमन गुण वाली है। अधर्मास्तिकाय गुण से स्थिर गुण वाली है। इसके शेष सब लक्षण धर्मास्तिकाय के समान ही हैं।

धर्मास्तिकाय जीव और पुद्गल द्रव्य की गति में किस प्रकार सहायभूत होती है, इस विषय में कहा गया है—

ण य गच्छदि धम्मत्थी गमणं ण करेदि अण्णदवियस्स।
हवदि गदिस्सप्पसरो जीवाणं पुग्गलाणं च॥
उदयं जह मच्छाणं गमणाणुग्गहकरं हवदि लोए।
तह जीव पुग्गलाणं धम्मं दव्वं वियाणाहि॥

—पञ्चास्तिकाय, ८८ और ८५

अर्थात्—धर्मास्तिकाय न तो स्वयं चलती है और न किसी को चलाती है। वह तो गतिमान जीव और पुद्गलों की गति में केवल माध्यम रूप से साधनभूत है। जिस प्रकार जल मछलियों के लिए गति में अनुग्रहशील है, उसी प्रकार धर्म द्रव्य, जीव और पुद्गलों के लिए अनुग्रहशील है।

धर्मास्तिकाय गति में प्रेरक कारण न होकर सहकारी कारण है। जिस प्रकार बिजली के तार बिजली को, रेल पटरी रेल को चलने के लिए प्रेरित नहीं करते हैं, उदासीन व मूक सहायक होते हैं। इसी प्रकार धर्मास्तिकाय भी गति-क्रिया में निष्क्रिय माध्यम का काम करती है। उदासीन व सहकारी कारण बनती है।

विश्व के समस्त द्रव्यों के हलन चलन का कारण धर्मास्तिकाय ही है। इसका वर्णन करते हुए आगम में कहा है—

धम्मत्थिकाएणं भंते! जीवाणं किं पवत्तइ? गोयम!

धम्मत्थिकाएणं जीवाणं आगमण-गमण-भासुम्मेस-मणओग,
वइजोग-कायजोग-जेयावण्णे तहप्पगारा चल-सभावा सव्वेते
धम्मत्थिकाए पवत्तंति। —भगवती श. १३ उ. ४

हे भगवन् ! धर्मास्तिकाय से जीवों का क्या प्रवर्त्तन होता है ? भगवान् फरमाते हैं कि हे गौतम ! धर्मास्तिकाय से जीव का आगमन, गमन, बोलना, उन्मेष, मनोयोग, वचनयोग, काययोग और अन्य भी ऐसे सब चलन स्वभाव वाले कार्य होते हैं। यहाँ यह विशेष ज्ञातव्य है कि मनोवर्गणाओं व भाववर्गणाओं जैसे अति सूक्ष्म पुद्गलों के प्रसारित होने में भी धर्मास्तिकाय को निमित्त कारण माना गया है।

आगम में निरूपित उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट है कि 'धर्मास्तिकाय' वर्ण, गंध, रस एवं स्पर्श से रहित है। अतः यह भौतिक द्रव्य नहीं है। एक है अर्थात् अखंड-अविभाज्य है। लोक-प्रमाण है अर्थात् केवल लोक में परिव्याप्त है। अविभागी है तथा गतिमात्र में सहायक है।

आधुनिक वैज्ञानिकों ने भी एक ऐसे द्रव्य को ढूंढा है जो उपर्युक्त धर्मास्तिकाय द्रव्य से समता रखता है। इसका नाम 'ईथर' (Ether) है। ईथर और जैनदर्शन में कथित धर्म-द्रव्य के गुणों में इतना अधिक साम्य है कि ये दोनों एक द्रव्य के पृथक्-पृथक् नाम हैं, ऐसा कहना असमीचीन न होगा। ईथर के विषय में भौतिक विज्ञानवेत्ता डॉ. ए. एस. एडिंगटन लिखते है—

Now a day it is agreed that Ether is not a kind of matter, being non-material, its properties are quite, unique. Characters such as mass and rigidity which we meet within matter will naturally be absent in Ether but the Ether will have new definite characters of its own - non-material ocean of Ether.

—The Nature of the physical World p. 31

अर्थात्—आजकल यह स्वीकार कर लिया गया है कि ईथर

भौतिक द्रव्य नहीं हैं। भौतिक की अपेक्षा उसकी प्रकृति भिन्न है। भूत में प्राप्त पिण्डत्व और घनत्व गुणों का ईथर में अभाव होगा, परन्तु उसके अपने नये और निश्चयात्मक गुण होंगे।

अलबर्ट आइन्स्टीन के अपेक्षावाद के सिद्धान्तानुसार ईथर अभौतिक (अपारमाण्विक), लोकव्याप्त, नहीं देखा जा सकने वाला, अखंड द्रव्य है। प्रोफेसर जी. आर. जैन धर्म-द्रव्य और ईथर का तुलनात्मक अध्ययन करते हुए लिखते हैं—

Thus it is proved that science and Jain physics agree absolutely so far as they call Dharm (ether) non-material, non-atomic, non-discrete, continuous, coextensive with space, indivisible and as a necessary medium for motion and one which does not itself move.

यह सिद्ध हो गया है कि विज्ञान और जैनदर्शन दोनों यहां तक एकमत हैं कि धर्मद्रव्य या ईथर अभौतिक, अपारमाण्विक, अविभाज्य, अखण्ड, आकाश के समान व्यापक, अरूप, गति का अनिवार्य माध्यम और अपने आप में स्थिर है।

आशय यह है कि जैनदर्शन में वर्णित 'धर्म' द्रव्य और विज्ञान जगत् के 'ईथर' द्रव्य में आश्चर्यजनक समानता है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि ये एक ही द्रव्य के दो पर्यायवाची नाम हैं।

अधर्मास्तिकाय के अन्य सब लक्षण तो धर्मास्तिकाय के समान हैं केवल गुणों में भिन्नता है। गुण की दृष्टि से धर्मास्तिकाय जहां गति में आश्रयभूत है वहां अधर्मास्तिकाय स्थिति में आश्रयभूत है। कहा भी है—'अहम्मो ठाणलक्खणो' उत्तरा. अ. ३२ गा ६। गति और स्थिति दोनों सापेक्ष हैं। अतः इनमें से किसी भी एक गुण वाले द्रव्य के अस्तित्व से दूसरे गुणवाले द्रव्य का अस्तित्व स्वतः सिद्ध हो जाता है। स्थिति में सहायभूत अधर्म द्रव्य (Medium of rest) के विषय में वैज्ञानिकों की खोज जारी है। आकर्षण शक्ति का एक रूप

गुरुत्वाकर्षण का क्षेत्र (Field of gravitation) सामने आया है जिसमें अधर्म द्रव्य के प्राय: सभी गुण पाये जाते हैं। वर्तमान विज्ञान के अनुसार 'ईथर' और 'गुरुत्वाकर्षण' में अभौतिकत्व, अरूपत्व, अमूर्तत्व आदि सब गुण तो समान हैं केवल कार्य में ही भेद है। ईथर का कार्य गति में माध्यम होना है और गुरुत्वाकर्षण का कार्य स्थिति में माध्यम होना है। अत: जिस प्रकार धर्म द्रव्य का ईथर से साम्य है उसी प्रकार अधर्म द्रव्य का गुरुत्वाकर्षण से साम्य हो सकता है। □

आकाशास्तिकाय

जैन दार्शनिकों ने जिस प्रकार गति और स्थिति के माध्यम के रूप में धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय द्रव्यों का स्वतन्त्र अस्तित्व स्वीकार किया है; उसी प्रकार उन्होंने स्थान देने रूप अवगाहन के लिए आकाश द्रव्य का माध्यम स्वीकार किया है। जीव और पुद्गल द्रव्यों में गति और स्थिति की योग्यता स्वभावतः होती है। फिर भी इनकी गति और स्थिति रूप क्रियाओं में धर्म एवं अधर्म रूप माध्यमों की सहायता अपेक्षित होती है। इसी प्रकार पदार्थों के स्थान ग्रहण रूप अवगाहन की योग्यता स्वभावतः होती है। फिर भी इनकी अवगाहन क्रिया के लिए आकाशरूप माध्यम की सहायता अपेक्षित होती है। इस दृष्टि से जैन दार्शनिकों के अनुसार अन्य द्रव्यों की भांति 'आकाश' भी एक स्वतंत्र द्रव्य है।

आकाश का वर्णन करते हुए आगमकार कहते हैं—

"भायणं सव्व दव्वाणं नहं ओगाहलक्खणं।" उ अ. २८.९
दुविहे आगासे पन्नते तंजहा-लोगागासे च अलोगागासे चेव।
स्थानांग—२

अर्थात्—सभी द्रव्यों का भाजन एवं अवगाहना लक्षण वाला आकाश है। आकाश दो प्रकार का है—लोकाकाश एवं अलोकाकाश।

जैनदर्शन के समान ही विज्ञान जगत् में भी 'आकाश' का एक स्वतन्त्र द्रव्य के रूप में अस्तित्व स्वीकार कर लिया गया है। नयी भौतिकी संकेत देती है कि देश और काल के भीतर केवल द्रव्य और विकिरण ही नहीं, बहुत-सी और चीजें हैं, जिनका अपना महत्त्व है। डॉ. हेनशा का मत है—

These four elements (Space, Matter, Time and Medium of motion) are all separate in our mind. We can not imagine that the one of them could depend on another or converted into another.

अर्थात्—आकाश, पुद्गल, काल और गति का माध्यम (धर्म) ये चारों तत्त्व हमारे मस्तिष्क में भिन्न-भिन्न हैं। हम इसकी कल्पना भी नहीं कर सकते कि ये एक-दूसरे पर निर्भर रहते हों या एक-दूसरे में परिवर्तित हो सकते हों। इससे जैनदर्शन के इस सिद्धांत की पुष्टि होती है कि सभी द्रव्य स्वतन्त्र परिणमन करते हैं और कोई द्रव्य किसी दूसरे द्रव्य रूप नहीं होता है।

जैनागमों में लोक-अलोक की व्याख्या करते हुए कहा है—

> धम्मो अधम्मो आगासं कालो पुग्गलं तओ।
> एस लोगुत्ति पण्णतो जिणेंहि वरदसीहि ।। उत्तरा २८.७
> लोगालोगे य आगासे।—उत्तरा. अ. ३६ गा. ७

अर्थात्—जिसके अन्दर धर्म, अधर्म, आकाश काल, पुद्गल और जीव रहते हों उसको सर्वदर्शी जिनेन्द्र भगवान् ने लोक कहा है और आकाश लोक में भी है और उसके बाहर अलोक में भी सर्वत्र है। अर्थात् लोकाकाश में सब द्रव्य रहते हैं और अलोक में एक आकाश के अतिरिक्त धर्म, काल आदि अन्य कोई द्रव्य नहीं है[1]।" इस दृष्टि से जैन दर्शन लोक को परिमित मानता है और अलोक को अपरिमित। जैन दर्शन की उक्त मान्यताओं की पुष्टि वैज्ञानिक एडिंगटन ने भी की है—

The world is closed in space dimensions. I shall use the phrase arrow to express this on way properly which has no analogy in space.

विश्वविख्यात वैज्ञानिक अल्बर्ट आइन्स्टीन, डी. सीटर, पोइन-

---

१ आगासवज्जिता सव्वे लोगम्मि चेव णत्थि बहिं। —गो. जी. गा. ५८२

केर आदि की लोक-अलोक के विषय में भिन्न-भिन्न मान्यताएं हैं। इन मान्यताओं एवं सिद्धांतों का समन्वय कर देने पर जैनदर्शन में वर्णित लोकालोक का स्वरूप स्वतः फलित होने लगता है। आइन्स्टीन के सिद्धान्तानुसार विश्व बेलनाकार, वक्र, एकबद्ध आकार को धारण करने वाला और सान्त है। जैनदर्शन भी लोक आकाश को वक्र तथा सान्त मानता है। आइन्स्टीन के मन्तव्यानुसार समस्त आकाश स्वयं सान्त और परिबद्ध है। जब कि जैनदर्शन के अनुसार समस्त आकाश द्रव्य तो अनन्त असीम अपरिमित है, केवल लोकाकाश सान्त व बद्ध है। कारण कि लोक-आकाश में व्याप्त धर्मास्तिकाय एवं अधर्मास्तिकाय सान्त परिमित तथा बद्धाकार वाली है, अतः लोक भी सान्त, परिमित व बद्धाकार हो जाता है।

आइन्स्टीन के विश्व विषयक सिद्धांत में समस्त आकाश अवगाहित है। इसका कोई भी अंश रिक्त नहीं है। आइन्स्टीन ने समीकरणों से सिद्ध किया कि अवगाहित पदार्थ के अभाव में आकाश का अस्तित्व संभव नहीं है। परन्तु डच ज्योतिर्वैज्ञानिक 'डी सीटर' ने इसे स्वीकार नहीं किया और परिवर्तित तथा परिवर्द्धित समीकरणों द्वारा शून्य (पदार्थ रहित) आकाश की विद्यमानता को सम्भावित सिद्ध किया।[1]

इस प्रकार जहां आइन्स्टीन का विश्व-आकाश सम्पूर्ण रूप में अवगाहित है, वहां डी. सीटर का विश्व-आकाश सम्पूर्ण रूप में अवगाहित शून्य है। जैन दर्शन सम्पूर्ण लोक आकाश को अवगाहित मानता है और सम्पूर्ण अलोक आकाश को अवगाहित-शून्य मानता है। इससे यह कहा जा सकता है कि विश्व समीकरण में मूलभूत पद लोक आकाश का है और परिवर्द्धित पद अलोक आकाश का सूचक है। आइन्स्टीन का विश्व लोक-आकाश है और डी. सीटर का विश्व अलोक

---

१ फ्रॉम यूक्लीड टू एडिंग्टन, पृ. १२६

आकाश। इस प्रकार आइन्स्टीन व डी. सीटर के विश्व का समन्वित रूप जैनदर्शन में विश्व लोकालोक आकाश अभिव्यक्त होता है।

विश्व की वक्रता के विषय में विश्व समीकरण के हल, वैज्ञानिकों के सामने यह समस्या खड़ी कर देते हैं कि वक्रता धन है, अथवा ऋण ? धन वक्रता वाला सान्त और बद्ध तथा ऋणवक्रता वाला विश्व अनंत और खुला पाया जाता है। आइन्स्टीन का विश्व धन वक्रता वाला है। अतः सान्त और बद्ध है। ऋण वक्रता वाले विश्व की संभावना भी विश्व समीकरण के आधार पर हुई है। इस प्रकार धन और ऋण वक्रता के आधार पर क्रमशः 'सान्त और बद्ध' तथा 'अनंत और खुले' विश्व की संभावना होती है। लोकाकाश की वक्रता धन और अलोकाकाश को ऋण मानने पर जैनदर्शन का सिद्धांत पुष्ट हो सकता है। लोकाकाश का आकार धन वक्रता वाला है, यह क्षेत्रलोक के गणितिक विवेचन से स्पष्ट है। अतः अलोकाकाश का आकार स्वतः ऋण वक्रता वाला हो जाता है। इस प्रकार जैन-विश्वसिद्धांत तथा धन और ऋण वक्रता स्वीकार करने वाले वैज्ञानिक विश्व-सिद्धांत का समन्वय सम्भव है।[1]

आकाश के सांत होते हुए भी हम उसकी सीमा को नहीं पा सकते। इस सिद्धांत को एक अन्य वैज्ञानिक पोइनकेर (Pin-care) ने काफी स्पष्ट किया है—सांत आकाश का क्या अर्थ है ? आकाश यदि सांत है तो इसके परे क्या है ? इन प्रश्नों का उत्तर पोइनकेर ने इस प्रकार दिया है।[2]—"अपना विश्व एक अत्यन्त विस्तृत गोले के समान है और विश्व में उष्ण तापमान का विभागीकरण इस प्रकार हुआ है कि गोले के केन्द्र में उष्ण तापमान अधिक है और गोले की ओर क्रमशः घटता हुआ। विश्व की सीमा (गोले की अंतिम सतह) पर वह

---

१ जैन भारती, १५ मई, १९६६

२ दी नेचर आफ दी फिजीकल रियलिटी, पृ. १६३ तथा फाउन्डेशन्स आफ साइन्स, पृ. १७५

वास्तविक शून्य को प्राप्त होता है। सभी पदार्थों का विस्तार उष्णतापमान के अनुपात से होता है। अतः केन्द्र की ओर से सीमा की ओर हम चलेंगे तो हमारे शरीर का तथा जिन पदार्थों के पास से हम गुजरेंगे, उन पदार्थों का भी विस्तार क्रमशः कम होना प्रारम्भ हो जायेगा, किंतु हमें इस परिवर्तन का कोई अनुभव नहीं होगा। यद्यपि हमारा वेग दीखने में वही रहेगा, किंतु वस्तुतः घट जायेगा और हम कभी सीमा तक नहीं पहुंच पायेंगे। अतः यदि केवल "अनुभव के आधार पर कहें तो हमारा विश्व अनन्त है, किन्तु वस्तुवृत्या तो हम 'अन्त' को पा नहीं सकते। हमारी पहुंच केवल एक सीमा तक रहेगी। उसके बाद आकाश अवश्य होगा, किन्तु हमारी पहुँच से बाहर है।" इस उद्धरण और उदाहरण में पोइनकेर ने यह बताने का प्रयत्न किया है कि हमारे विश्व के उष्णतापमान का विभागीकरण इस प्रकार है कि ज्यों-ज्यों हम सीमा के समीप जाने का प्रयत्न करते हैं, त्यों-त्यों हमारे वेग में और विस्तार में कमी होती है। परिमाणतः हम सीमा को प्राप्त ही नहीं कर सकते। इस विचार को हम जैनदर्शन की उस उक्ति के समीप मान सकते हैं कि—"लोक के सब अन्तिम भागों में अबद्ध, पार्श्व, स्पृष्ट पुद्गल होते हैं; लोकान्त तक पहुँचते ही सब पुद्गल स्वभाव से ही रूक्ष हो जाते हैं। वे गति में सहायता करने की स्थिति में संगठित नहीं हो सकते। इसलिए लोकांत से आगे पुद्गल की गति नहीं हो सकती। यह एक लोक-स्थिति है।"[1] रूक्षत्व परमाणुओं का मूल गुण माना गया है। कुछ प्रमाणों के आधार पर यह एक प्रकार का (ऋण अथवा धन) विद्युत-आवेश हो, ऐसा लगता है। पोइनकेर के अभिमत को यदि जैनदर्शन में विवेचित सिद्धांत का केवल शब्दान्तर ही माना जाये तो अबद्ध,

---

१ सव्वेसु वि ण लोगंतेसु अबद्ध पासपुट्ठा पोग्गला लुक्खत्ताते कज्जति जेणं जीव य पोग्गलातनो संचायति बहिता लोगंता गमणयाते एवप्पेगा लोगट्ठिती पण्णत्ता। —ठाणांग सूत्र १०

पार्श्व, स्पृष्ट पुद्गल का अर्थ 'वास्तविक शून्य तापमान वाला पुद्गल' हो सकता है। कुछ भी हो, दोनों उक्तियों के बीच साम्य है, यह स्पष्ट है। पोइनकेर ने आकाश की सांतता और परिमितता के अन्तर को स्पष्ट करने के लिये उक्त विचार दिया है, जबकि जैन दर्शन ने लोकाकाश की सांतता और अलोकाकाश में गति-अभाव के कारण के रूप में उक्त तथ्य बताया है।[1]

आशय यह है कि आधुनिक विज्ञान जैनदर्शन में वर्णित आकाश के स्वरूप को स्वीकार करता है तथा दोनों में आश्चर्यजनक समानता है। □

---

१ जैन भारती, १५ मई, १९६६

कालद्रव्य

अजीव द्रव्य का चौथा भेद 'काल' है। जैनागमों में काल का विशद वर्णन है। काल के स्वरूप पर जैन दार्शनिकों की व्याख्या इस प्रकार है—'वत्तणालक्खणो कालो'—उत्तरा. २८.१०
वर्तनापरिणामक्रिया:परत्वापरत्वे च कालस्य।—तत्त्वार्थ सूत्र ५.२२

काल का लक्षण वर्तना है अथवा वर्तना, परिणाम, क्रिया, परत्व और अपरत्व ये कालद्रव्य के उपकार हैं। इस प्रकार से वर्तना काल का उपलक्षण है। उसमें ही परिणाम, क्रिया, परत्व और अपरत्व का अन्तर्भाव हो जाता है। वर्तना शब्द, 'युच्', प्रत्यय पूर्वक 'वृतु' धातु से बना है, जिसका अर्थ है वर्तनशील होना। उत्पत्ति, अप्रच्युति और विद्यमानता रूप वृत्ति अर्थात् क्रिया वर्तना कहलाती है। वर्तना सभी पदार्थों में विद्यमान है। वर्तना रूप कार्य की उत्पत्ति जिस द्रव्य का उपकार है, वही काल है।

परिणाम परिणमन का ही रूप है। परिणमन और क्रिया सहभावी है। परिणाम और क्रिया काल के उपकार किस प्रकार हैं, इस विषय में जैन दर्शन का स्पष्ट मत है यथा—

ण य परिणमदि सयं सो ण य परिणामेई अण्णमण्णेहिं।
विविहपरिणामियाणं हवदि हु कालो सयं हेदू॥
कालं अस्सियदव्वं सगमगपज्जायपरिणदं होदि।
पज्जायावट्ठाणं सुद्धणये होदि खणमेत्तं॥

—गोम्मटसार, जीवकांड ५६६-७०

परिणामी होने से काल द्रव्य दूसरे द्रव्य रूप परिणत हो जाय यह बात नहीं है। वह न तो स्वयम् दूसरे द्रव्य रूप में परिणत होता

है और न दूसरे द्रव्यों को अपने स्वरूप अथवा भिन्न द्रव्य स्वरूप में परिणमाता है, किन्तु अपने स्वभाव से ही अपने-अपने योग्य पर्यायों से परिणत होने वाले द्रव्यों के परिणमन में यह काल द्रव्य उदासीनता पूर्वक स्वयं बाह्य सहकारी निमित्त बन जाता है। इस प्रकार काल के आश्रय से प्रत्येक द्रव्य अपने-अपने योग्य पर्यायों से परिणत होता है।

जिस प्रकार द्रव्यों की गति और स्थिति रूप क्रिया में धर्मास्तिकाय एवं अधर्मास्तिकाय उपादान व प्रेरक निमित्त कारण न होकर उदासीन सहकारी निमित्त कारण होते है और द्रव्य अपनी ही योग्यता से गति और स्थिति रूप क्रिया करते हैं। उसी प्रकार पदार्थों के परिणमन में काल उदासीन सहकारी निमित्त कारण होता है। इसके निमित्त से पदार्थ में प्रतिक्षण नव निर्माण व विध्वंस सतत होता रहता है जो क्रिया रूप से प्रकट होता है। निर्माण विध्वंस की यही क्रिया घटनाओं को जन्म देती है। इस प्रकार काल ही पदार्थों के समस्त परिणमनों, क्रियाओं व घटनाओं का आदि सहकारी कारण है। दूसरे शब्दों में, काल पदार्थों के परिणमन, क्रियाशीलता व घटनाओं के निर्माण में भाग लेता है।

आधुनिक विज्ञान भी जैनदर्शन में कथित उपर्युक्त तथ्य को स्वीकार करता है यथा—आइन्स्टीन ने देश और काल से उनकी तटस्थता *छीन ली है और यह सिद्ध कर दिखाया है कि ये भी घटनाओं में भाग लेते हैं।* प्रसिद्ध वैज्ञानिक जिन्स का कथन है कि हमारे दृश्य जगत् की सारी क्रियाएँ मात्र फोटोन और द्रव्य अथवा भूत की क्रियाएँ हैं तथा इन क्रियाओं का एक मात्र मंच देश और काल है। इसी देश और काल ने दीवार बनकर हमें घेर रखा है। अतः यह फलित होता है कि जैनदर्शन में वर्णित यह तथ्य कि परिणमन और क्रिया काल के उपकार हैं विज्ञान जगत् में मान्य हो गया है।

काल के परत्व-अपरत्व लक्षण को कुछ आचार्यों ने व्यक्ति, वस्तु, परिस्थिति, क्षेत्र आदि के दो माध्यम स्थापित कर उनको सापेक्ष

रूप में समझाने का प्रयास किया है। परन्तु विचारणीय यह है कि जब काल के वर्तना, परिणाम और क्रिया लक्षण स्वयं उसी पदार्थ में प्रकट होते हैं, तो परत्व-अपरत्व लक्षण भी उसी पदार्थ में प्रकट होने चाहिये। इनके लिए भी एक सापेक्ष्य की आवश्यकता नहीं होनी चाहिए। लगता है कि उस समय के व्याख्याकार आचार्यों के समक्ष कोई ऐसा उदाहरण या विधि विद्यमान नहीं थी जिससे वे काल के परिणाम-क्रिया आदि अन्य लक्षणों के समान परत्व-अपरत्व को भी स्वयं पदार्थ में ही प्रमाणित कर सकते। विज्ञान जगत् में इसे आज भी केवल गणित के जटिल समीकरणों से ही समझा जा सकता है, व्यावहारिक प्रयोगों द्वारा नहीं। पदार्थ की आयु की दीर्घता का अल्पता में, अल्पता का दीर्घता में परिणत हो जाना परत्व-अपरत्व है। दूसरे शब्दों में पदार्थ की अपनी आयु का विस्तार और संकुचन परत्व-अपरत्व है।

विश्व में चोटी के वैज्ञानिक आइन्सटीन व लारेन्सन ने समीकरणों से सिद्ध किया है कि गति के तारतम्य से पदार्थ की आयु में संकोच-विस्तार होता है। उदाहरण के लिये एक नक्षत्र को लें जो पृथ्वी से ४० प्रकाश वर्ष दूर है अर्थात् पृथ्वी से वहां तक प्रकाश जाने में ४० वर्ष लगते हैं। यहां से वहां तक पहुँचने के लिये यदि एक राकेट २४०००० किलोमीटर प्रति सैकिण्ड की गति से चले तो साधारण गणित की दृष्टि से उसे ५० वर्ष लगेंगे। कारण कि प्रकाश की गति प्रति सैकिण्ड ३००००० किलोमीटर है। अतः $\frac{300000}{240000} \times 40 = 50$ वर्ष लगे। परन्तु फिर जगेराल्ड के संकुचन के नियमों के अनुसार काल में संकुचन हो जायेगा और यह संकोच १० :६ के अनुपात में होगा अर्थात् $\frac{6 \times 50}{10} = 30$ वर्ष लगेंगे। इससे यह फलित होता है कि काल पदार्थ के परिणमन और क्रिया को प्रभावित करता हुआ उसकी आयु पर भी प्रभाव डालता है।

पदार्थकी आयु दीर्घता, अल्पता एवं पौर्वापर्य काल में भाग लेता है। इस प्रकार जैनदर्शन में प्रतिपादित काल के परत्व-अपरत्व लक्षण को आधुनिक विज्ञान गणित के समीकरणों से स्वीकार करता है। तात्पर्य यह है कि जैनदर्शन में वर्णित काल के वर्तना, परिणाम क्रिया, परत्व एवं अपरत्व लक्षणों को वर्तमान विज्ञान सत्य प्रमाणित करता है।

काल के स्वरूप के विषय में श्वेताम्बर और दिगम्बर आचार्यों में कुछ मान्यता भेद भी है। श्वेतांबर परम्परा के अनुसार काल औपचारिक द्रव्य है तथा जीव और अजीव की पर्याय है यथा—'किमयं-भंते! कालोति पव्वुच्चई गोयमा? जीवा चेव अजीवा चेव।' तथा अन्यत्र ६ द्रव्यों को गिनाते समय अद्धासमय रूप में काल द्रव्य को स्वतंत्र द्रव्य माना गया है। दिगम्बर परम्परा में काल को स्पष्ट, वास्तविक व मूल द्रव्य माना है यथा—

> लोगागासपदे से एक्के एक्के जेट्ठिया हु एक्केक्का।
> रयणाणं रासी इव ते कालाणू असंख दव्वाणि।। ५८८।।
> एगपेदेसो अणुस्स हवे।। ५८५।।
> लोगपदेसप्पमो कालो।। ५८७।।—गोम्मटसार : जीवकांड

अर्थात् काल के अणु, रत्न-राशि के समान लोकाकाश के एक प्रदेश में एक एक स्थित है। पुद्गल द्रव्य का एक अणु एक ही प्रदेश में रहता है। लोकाकाश के जितने प्रदेश हैं उतने ही काल द्रव्य हैं।

दोनों ही परम्पराओं द्वारा प्रतिपादित काल-विषयक विवेचन में जो मत-भेद दिखाई देता है, वह अपेक्षाकृत ही है। वर्तना, परिणाम, क्रिया, परत्व, अपरत्व, काल के लक्षण भी हैं और पदार्थ की पर्यायें भी है और यह नियम है कि पर्यायें पदार्थ रूप ही होती हैं पदार्थ से भिन्न नहीं। अतः इस दृष्टि से काल को स्वतंत्र द्रव्य न मानकर औपचारिक द्रव्य मानना उचित ही है।

कालाणु भिन्न-भिन्न हैं। प्रत्येक पदार्थ परमाणु व वस्तु से कालाणु आयाम रूप से संयुक्त है तथा पदार्थों की पर्याय परिवर्तन में अर्थात् परिणमन व घटनाओं के निर्माण में सहकारी निमित्त कार्य के रूप में भाग लेता है। यह नियम है कि निमित्त उपादान से भिन्न होता है। अतः इस दृष्टि से काल को स्वतंत्र द्रव्य मानना उचित ही है।

उपर्युक्त दोनों परम्पराओं की मान्यताओं के समन्वय से यह फलितार्थ निकलता है कि काल एक स्वतंत्र सत्तावान् द्रव्य है। वह प्रत्येक पदार्थ से संयुक्त है। पदार्थ की क्रियामात्र में उसका योग है। आधुनिक विज्ञान भी काल के विषय में इन्हीं तथ्यों को प्रतिपादित करता है। आइन्स्टीन ने सिद्ध किया है कि देश और काल मिलकर एक हैं और वे चार डायमेन्शनस् (लम्बाई, चौड़ाई, मोटाई व दिक्-काल) में अपना काम करते हैं।[1] विश्व के चतुरायाम संघरण में दिक्-काल की स्वाभाविक अतिव्याप्ति से गुजरने के प्रयत्न लाघव का फल ही मध्याकर्षण होता है।[2] देश और काल परस्पर स्वतंत्र सत्ताएं हैं।[3] रिमैन की ज्यामिति और आइन्स्टाइन के सापेक्षवाद (जिसने विश्व की कल्पना को जन्म दिया है) में देश और काल परस्पर संपृक्त हैं।[4] दो संयोगों (इवेन्ट्स) के बीच का अन्तराल (इंटरवल) ही भौतिक पदार्थ की रचना करने वाला तत्त्वांशों का संबंध सिद्ध हुआ है। जिसे देश और काल के तत्त्वों से अन्वित या विश्लिष्ट कर समझा जा सकता है।[5]

वैज्ञानिकों द्वारा प्रतिपादित काल विषयक उपर्युक्त उदाहरणों और जैनदर्शन में प्रतिपादित काल के स्वरूप में आश्चर्यजनक समानता तो है ही साथ ही इनमें आया हुआ दिक् विषयक वर्णन जैनदर्शन में वर्णित आकाश द्रव्य के स्वरूप को भी पुष्ट करता है।

१—२ ज्ञानोदय, विज्ञान अंक, पृ. २६
३—४ ज्ञानोदय, विज्ञान अंक, पृ. ११४
५ ज्ञानोदय, विज्ञान अंक, पृ. ६

आधुनिक विज्ञान समय के कार्यकलाप के आधार पर उसे परिसिद्धांत रूप में द्रव्य स्वीकार करने लगा है। वैज्ञानिक रेडिन्टन का कथन है—Time is the more physical reality than matter. अर्थात् काल पदार्थ से अधिक वास्तविक भौतिक है। वैज्ञानिक हेन्शा का मत है—Therefor elements Space, matter, time and medium of motion are all separate in our mind अर्थात् आकाश, पदार्थ, काल और गति का माध्यम (धर्मास्तिकाय) ये चारों स्वतन्त्र तत्त्व है। भारतीय प्रोफेसर एन. आर. सेन भी इसी मत का समथन करते हैं। विख्यात वैज्ञानिक ऐडिंगटन के कथन से जैनदर्शन में प्रतिपादित काल के भेदों (व्यवहार काल, निश्चय काल) की पुष्टि होती है, यथा— *Whatever may be the time defuse the Astronomer royals, time is defects.*

जैनदर्शन में केवल, 'कालद्रव्य' को ही 'अकाय' माना है। काल के 'अकायत्व' के समर्थन में ऐडिंगटन का कथन है—I shall use the phrase times arrow to express this one way property of time which no analogue in space. काल द्रव्य की अन्तता के विषय से ऐडिंगटन का मत है कि—The world is closed in space dimensions but it is open at forth ends to time dimensions.

आशय यह है कि जैनदर्शन में काल को जिन विशेषताओं या गुणों से युक्त द्रव्य माना गया है, आधुनिक विज्ञान भी उन्हें स्वीकार करता है।

व्यावहारिक काल

जैनाचार्यों ने काल के दो रूप माने हैं—वास्तविक काल-द्रव्य और व्यावहारिक काल, यथा—

> लोकाकाशप्रदेशस्था भिन्नाः कालाणवस्तु ये,
> भावानां परिवर्ताय, मुख्यः कालः स उच्यते।

ज्योतिः शास्त्रे यस्य मानमुच्यते समयादिकम्,
स व्यावहारिक कालः कालवेदिभिरामतः ॥
—योगशास्त्र, आचार्य हेमचन्द्र कृत

लोकाकाश के प्रदेशों में रहने वाले, एक दूसरे से भिन्न जो काल के अणु हैं, वे मुख्यकाल कहलाते हैं और वे ही पदार्थों के परिवर्तन में निमित्त होते हैं। ज्योतिष-शास्त्र में जो समयादि का परिमाण है वह व्यावहारिक काल है, ऐसा कालद्रव्य के वेत्ताओं ने कहा है। श्री हेमचन्द्राचार्य के इस काव्य-कथन से स्पष्ट है कि पदार्थों के परिणमन, क्रिया आदि में सहायभूत द्रव्य वास्तविक काल द्रव्य है और इन्हीं परिणामों, क्रियाओं व घटनाओं के अन्तराल का अंकन व मापन करना व्यावहारिक काल है। व्यावहारिक काल पदार्थ का वास्तविक रूप न होकर पर के द्वारा आरोपित होता है। अतः यह औपचारिक होता है, वास्तविक कालद्रव्य नहीं।

वास्तविक काल द्रव्य के लक्षणों का विज्ञान की दृष्टि से विवेचन किया जा चुका है। अब व्यावहारिक या औपचारिक काल पर विचार किया जा रहा है। जैनागमों में व्यावहारिक काल का वर्णन इस प्रकार है यथा—गोयमा! असंखेज्जाणं समयाणं समुदयसमिइ-समागमेणं सा एगा आवलियत्ति पवुच्चई, संखेज्जा आवलिया ऊसासो, संखेज्जा आवलिया निस्सासो, हट्ठस्स अणवगल्लस्स निरूवकिट्ठस्स जंतुणो! एगे ऊसासनीसासे एस पाणुत्ति वुच्चइ (१) सत्त पाणूणि से थोवे, सत्त थोवाइं से लवे। लवाणं सत्तहत्तरिए एस मुहुत्ते वियाहिए (२) तिण्णि सहस्सा सत्त य सयाई, तेहत्तरिं च ऊसासा। एस मुहुत्तो दिट्ठो सव्वेहिं अणंतनाणीहिं (३) भगवती —६.७.४

भगवान् महावीर का कथन है कि हे गौतम्! असंख्यात समय के समुदाय की एक आवलिका होती है, संख्यात आवलिका का एक उच्छ्वास, संख्यात आवलिका का एक निश्वास स्वस्थ पुरुष का होता

है। एक श्वासोच्छ्वास को प्राण कहते हैं। सप्त प्राण का एक स्तोक, सात स्तोकों का एक लव, ७७ लव का एक मुहूर्त और ३० मुहूर्त की एक अहो रात्रि होती है तथा एक श्वासोच्छ्वास में १७ क्षुल्लक भव और एक क्षुल्लक भव (आयु का सबसे छोटा परिणाम) में २५६ आवलिका होती है। इस प्रकार एक मुहूर्त में ७×७×७७ =३७७३ श्वासोच्छ्वास तथा एक श्वासोच्छ्वास में १७×२५६= ४३५२ आवलिकाएँ होती हैं और एक मुहूर्त में १६४२००६६ आवलिकाएँ होती हैं। अन्यत्र एक मुहूर्त में १,६७,७७,२१६ आवलिकाएँ भी कही गयी हैं। वर्तमान समय नाप के अनुसार एक मुहूर्त ४८ मिनिट का या २८८० सैकिंड का होता है। अतः एक श्वासोच्छ्वास २८८०/३७७३ अर्थात् एक सैकिण्ड से भी कम तथा एक आवलिका $\frac{\text{२८८० अर्थात्}}{\text{१६४२००६६}}$ एक सैकिण्ड के ५६०० वें भाग से भी कम होती है। एक आवलिका में असंख्य समय कहे गये हैं अतः एक सैकिण्ड में भी असंख्य समय हुए। 'समय' का इतना सूक्ष्म परिमाण साधारणतः बुद्धिग्राही नहीं है और न व्यवहार में इसका अंकन ही संभव है। अतः एक कल्पना मात्र लगता है। परन्तु वर्तमान में विज्ञान ने समय नापने के लिये जिन आणविक घड़ियों का आविष्कार किया है उससे अनुमान लगाना सम्भव हो गया है, यथा—

"१९६४ से आणविक कालमान का प्रयोग आरम्भ हुआ। अब एक सैकिण्ड की लम्बाई की व्यवस्था एक सीसियम अणु के ९,१९,२६,३१,७७० स्पन्दनों के लिए आवश्यक अन्तर्काल के रूप में की गई है आणविक घड़ी द्वारा समय का निर्धारण इतनी बारीकी और विशुद्धता से किया जा सकता है कि इससे त्रुटि की संभावना ३० हजार वर्षों में एक सैकण्ड से भी कम होगी।" वैज्ञानिक आजकल एक हाइड्रोजन घड़ी विकसित कर रहे हैं जिसकी शुद्धता में त्रुटि की संभावना ३ करोड़ वर्षों के भीतर एक सैकण्ड से भी कम—

होगी।"[1]

इस प्रकार आज विज्ञान जगत् में प्रयुक्त होने वाली आणविक घड़ी एक सैकेण्ड के नौ अरब उन्नीस करोड़ छब्बीस लाख इकत्तीस हजार सात सौ सत्तरवें भाग तक का स्थान सही प्रकट करती है। भौतिक तत्त्वों से निर्मित घड़ी अब एक सैकेण्ड का दस अरबवां भाग तक सही नापने में समर्थ है और भविष्य में इससे भी कम सूक्ष्म समय नापने वाली घड़ियों के निर्माण की संभावना है। अतः एक आवलिका में असंख्यात समय होते हैं, इसमें अब आश्चर्य जैसी कोई बात नहीं रह गई है।

समय की सूक्ष्मता का कुछ अनुमान गति व लम्बाई के उदाहरण से भी लगाया जा सकता है। लम्बाई का प्रतिमान मीटर (वार) है। परन्तु सन् १९६० ई. में लम्बाई के प्रतिमान मीटर का स्थान क्रिप्टन ८६ नामक दुर्लभ गैस से निकलने वाली नारंगी रंग के प्रकाश के तरंग आयामों की निर्दिष्ट संख्याओं ने ले लिया है। अतः अब एक मीटर क्रिप्टन के १६,५०,७६३.७३ तरंग आयामों के बराबर होता है। प्रकाश-किरण की गति एक सैकेण्ड में ३००००० किलोमीटर है। एक किलोमीटर में १००० मीटर होते हैं। अतः प्रकाश किरण एक सैकेण्ड में ३०००००×१०००×१६५०७६३.७३= ४९५२२९११९००००००००० क्रिप्टन आयामों के बराबर चलता है। अतः उसे एक आयाम को पार करने में लगभग एक सैकेण्ड का शंखवाँ भाग लगता है और टेलीपैथी विशेषज्ञों का कथन है कि मन की तरंगों की गति आकाश की गति से कितने ही गुना अधिक है। अतः मन की तरंग को क्रिप्टन के एक आयाम को पार करने में तो सैकेण्ड के शंखवें भाग से भी कितने ही गुना अधिक कम समय लगता है। अतः एक सैकेण्ड में असंख्यात समय होते हैं यह कथन युक्तियुक्त प्रमाणित होता है।

---

१ सा. हिन्दुस्तान, २९ मार्च, १९६९, पृ. २०

समय की सूक्ष्मता का कुछ अनुमान व्यावहारिक टेलीफोन से भी लगाया जा सकता है। कल्पना कीजिए कि आप दो हजार मील दूर बैठे हुए किसी व्यक्ति से टेलीफोन पर बात कर रहे हैं। आपकी ध्वनि विद्युत तरंगों में परिणत होकर तार के सहारे चल कर दूरस्थ व्यक्ति तक पहुँचती है और उसकी ध्वनि आप तक। इसमें जो समय लगा वह इतना कम है कि आपको उसका अनुमान नहीं हो रहा है और ऐसा लगता है मानो कुछ भी समय न लगा हो और आप उस व्यक्ति के समक्ष बैठकर ही वातचीत कर रहे हों। चार हजार मील तार को पार करने में तरंग को लगा समय भले ही आपको प्रतीत न हो रहा हो फिर भी समय तो लगा ही है। कारण कि वह तरंग एकदम ही वहाँ नहीं पहुँची है वल्कि एक-एक मीटर और मिलीमीटर को क्रमशः पार कर आगे बढ़ती हुई वहाँ पहुँची है। अब आप उस तरंग को टेलीफोन के तार के एक मीटर या मिलीमीटर को पार करने में जितना समय लगा उसकी सूक्ष्मता का अनुमान लगाइये। आप चाहे अनुमान लगा सकें या न लगा सकें परन्तु तरंग को एक मिलीमीटर तार पार करने में समय तो लगा ही है। जैनदर्शन में वर्णित 'समय' इससे भी असंख्यात गुना अधिक सूक्ष्म है।

'समय' नापने की विधि में भी जैनदर्शन व विज्ञान जगत् में आश्चर्यजनक समानता है। दोनों ही गति-क्रिया रूप स्पंदन के माध्यम से समय का परिमाण निश्चित करते हैं यथा—

अवरा पज्जावरिदी खणमेत्तं होदि ते च समओ त्ति।
दोण्हमणूणमदिक्कमकालपमाणं हवे सोदु ॥
॥ गो. जी. ५७२ ॥

सर्वद्रव्यों के पर्याय की जघन्य स्थिति (ठहरने का समय) एक क्षण मात्र होती है। इसी को समय कहते हैं। अथवा दो परमाणुओं के अतिक्रमण करने के काल का जितना प्रमाण है उसको समय कहते हैं। अथवा आकाश के एक प्रदेश पर स्थित एक परमाणु मन्द गति द्वारा

समीप के प्रदेश पर जितने काल में प्राप्त हो उतने काल को एक समय कहते हैं। आधुनिक विज्ञान भी सूक्ष्म समय का नाप परमाणु के स्पंदनों का अंकन करने वाली घड़ियों से करते हैं, जिन्हें आणविक 'घड़ियाँ कहते हैं। इन घड़ियों में दो स्पंदनों के अन्तर्काल को समय का घटक माना जाता है। सीसियम अणु की घड़ी में वह घटक या समय की इकाई एक सैकेण्ड का नौ अरब उन्नीस करोड़ छब्बीस लाख इकतीस हजार सात सौ सत्तर है। हाईड्रोजन व अन्य तत्त्वों से निर्मित ऐसी घड़ियाँ इससे भी कई गुनी अधिक सूक्ष्म समय के घटक को बतला सकेंगी, ऐसी संभावना है।

काल के अति सूक्ष्म अन्तर को नापने की पद्धति निकालने का श्रेय नोबल पुरस्कार प्राप्तकर्त्ता जर्मन वैज्ञानिक डॉ. आर. एल. म्युद्दस बाउसर को है। इन्होंने प्रथम संचारी प्रकम्पन पैदा करने में सफलता पायी। इन्हीं प्रकम्पनों से उन्होंने १ करोड़ वर्ष में एक मिनिट के परम सूक्ष्म अन्तर को भी नाप लिया।

जब लोह-५७ का कोई यूक्लियस उत्तेजित होकर प्रकम्पन करने लगता है तो उसमें से कुल मिलाकर १० अरब लहरें (गामा किरणें) निकलती हैं। यदि प्रथम लोहखंड को हिलाने से उपर्युक्त समय में पैदा होने वाली लहरों की संख्या में एक लहर की भी कमी आ जाय तो संचारी प्रकम्पन बन्द हो जायेगा।

इस प्रकार 'म्युद्दस बाउसर प्रभाव' का उपयोग करके अभूतपूर्व सूक्ष्मातिसूक्ष्म मात्रा में समय का नापना संभव हो गया है। इस अत्यन्त सूक्ष्म काल मापक घड़ी को 'न्युक्लियर घड़ी' कहते हैं।[1]

विशेष विस्मयकारी ज्ञातव्य तो यह है कि विज्ञान जगत् में भी समय के सूक्ष्मातिसूक्ष्म घटक को नापने वाली घड़ियों का आविष्कार अभी सन् १९६० ई. में हुआ है, जबकि जैन दार्शनिक अति प्राचीन काल से ही इस तथ्य से परिचित थे। □

१ नवनीत, मई १९६२, पृ. ७०

पुद्गल द्रव्य

अजीव तत्त्व का पांचवा भेद 'पुद्गल' है। 'पुद्गल' जैनदर्शन का पारिभाषिक शब्द है। जैनदर्शन में प्रयुक्त पुद्गल शब्द आधुनिक विज्ञान के Matter (पदार्थ) शब्द का समानार्थवाची कहा जा सकता है। पारिभाषिक होते हुए भी यह रूढ़ न होकर व्यौत्पत्तिक है। पुद्गल शब्द पुद् और गल इन अवयवों के योग से बना है। 'पुद्' का अर्थ है पूरा होना या मिलना (Combination) और 'गल' का अर्थ है गलना या मिटना (Disintegration)। अतः जो द्रव्य प्रति समय मिलता-मिटता रहे, बनता-बिगड़ता रहे वह पुद्गल है।[1]

पुद्गल को एक स्वतन्त्र द्रव्य माना गया है। जैनशास्त्रों में द्रव्य का लक्षण बताते हुए कहा है—'सद् द्रव्यलक्षणम्। उत्पादव्ययध्रौव्य-युक्तं सत्'।[2] अर्थात् द्रव्य सत् है और सत् उसे कहते हैं जो उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य गुण से युक्त हो। जैनदर्शन यह मानता है कि वस्तु अपने अस्तित्व रूप में नित्य रहती है, उसका नाश कभी भी नहीं होता है। उत्पत्ति और विनाश तो उसकी पर्याय मात्र हैं। जैसे स्वर्ण के मुकुट को तोड़कर कुण्डल बना देने पर भी स्वर्णत्व यथावत् बना रहता है। यहां स्वर्णत्व ध्रौव्य है और मुकुट रूप आकार का नाश और कुण्डल रूप आकार का निर्माण इसकी व्यय और उत्पाद पर्यायें हैं। अर्थात् रूपान्तर मात्र है। इसी प्रकार सब द्रव्य ध्रुव हैं, न तो शून्य से किसी द्रव्य का निर्माण ही संभव है और न कोई द्रव्य अपना अस्तित्व

---

१ (अ) पूरणगलनान्वर्थसंज्ञात्वात् पुद्गलाः। —तत्वार्थराजवार्तिक अ. ५ सू. १ वा २४

(आ) पूरणात् पुद्; गलयतीति गलः। शब्दकल्पद्रुमकोप।

२ तत्वार्थ सूत्र अ. ५ सूत्र २९-३०

खोकर शून्य बनता है। आगम वर्णित द्रव्य के इस लक्षण को जैनेतर दर्शन स्थान नहीं देते हैं। उनकी मान्यता यह रही है कि ध्रौव्य, उत्पाद और व्यय परस्पर विरोधी गुण हैं, अतः किसी द्रव्य में ये एक साथ नहीं रह सकते हैं। परन्तु विज्ञान के विकास ने जैनदर्शन में कथित द्रव्य के उक्त लक्षण का पूर्ण समर्थन किया है। प्रसिद्ध वैज्ञानिक लेवाईजर (Lavoiser) का कथन है —"Nothing can be created in every process. There is just as much substance (quality of matters) present beore and after the process has taken place. There is only change of modification of matter"[1]

अर्थात् किसी भी क्रिया से कुछ भी नवीन उत्पत्ति नहीं की जा सकती तथा प्रत्येक क्रिया के पूर्व और पश्चात् की पदार्थ की मात्रा में कोई अन्तर नहीं पड़ता है। क्रिया से केवल पदार्थ का रूप परिवर्तित होता है।

यह रूपवान जगत् जिसमें असंख्य प्रकार के पार्थिव पदार्थ भरे पड़े हैं, जैनदर्शन इन समस्त पदार्थों का उत्पादन कारण एकमात्र पुद्गल द्रव्य को मानता है। संभवतः जैनदर्शन ही ऐसा दर्शन है जो विश्व के समस्त पार्थिव पदार्थों को चाहे वे ठोस हों (solid) अथवा द्रव (liquid) वायव्य (gases) हों अथवा ऊर्जा (Energy) रूप हों, इन सब को मूलतः एक ही तत्त्व 'पुद्गल परमाणु' से निर्मित मानता है। विश्व के अन्य दर्शन पृथ्वी, जल, अग्नि, जल आदि चार या पाँच या पच्चीस आदि तत्त्वों की विभिन्न संख्या को पदार्थों का उपादान कारण मानते हैं। कोई इसे तत्त्व ही नहीं मानकर मिथ्या या अलीक मानता है। परन्तु जैनदर्शन मिट्टी, जल, अग्नि आदि को न तो अलीक मानता है और न अलग-अलग मौलिक तत्त्व ही, प्रत्युत एक ही तत्त्व के विभिन्न रूप मानता है। साथ ही यह भी मानता है कि पदार्थों के

1. From law of indestrcutibility of matter as dfiened by Lavoiser.

ये रूप परस्पर रूपान्तरित हो सकते हैं। जैनदर्शन के इस सिद्धान्त को आज विज्ञान ने सत्य प्रमाणित कर दिया है।

विज्ञान की दृष्टि में मौलिक द्रव्य वह है जो किन्हीं दो द्रव्यों के मिश्रण का परिणाम न हो और मूलभूत परमाणुओ के ही विभिन्न प्रकार हों। जल आक्सीजन और हाइड्रोजन इन दो द्रव्यों के मिश्रण का परिणाम है, अतः विज्ञान जगत् में उसे मौलिक तत्त्व नहीं माना गया। इसी प्रकार पीतल, कांसा आदि भी मौलिक तत्त्व नहीं माने गये। विज्ञान ने मौलिक तत्त्व १०३ माने हैं, वे इस प्रकार है—(१) हाइड्रोजन, (२) हीलियम, (३) लिथियम, (४) बेरिलियम, (५) बोरान, (६) कार्बन, (७) नाइट्रोजन,(८)आक्सीजन, (६)फ्लुओरिन, (१०) न्योन, (११) सोडियम, (१२)मेग्नेसियम, (१३) अलमोनियम, (१४) सिलिकोन, (१५)फास्फोरम, (१६) गंधक, (१७) क्लोरीन, (१८) आर्गन, (१६) पोटास, (२०) केलसियम, (२१) स्केंडियम, (२२) टीटानियम, (२३) वनाडियम, (२४) क्रेमियम, (२५) मेगानीज, (२६) लोहा, (२७)कोवाल्ट, (२८)निकल, (२६) तांबा, (३०) जस्ता, (३१) गलियम, (३२) जर्मानियम, (३३) संखिया, (३४) सेलिनियम, (३५) ब्रोमीन, (३६) क्रुप्टोन, (३७) रुबोडियम, (३८) स्ट्रोनटियम, (३६) यित्रियम, (४०) जिकोनियम, (४१) न्युवयम, (४२) मोलिटेनम, (४३) मरूरियम, (४४) रूथेनियम, (४५) रहोडियम, (४६) पल्लाडियम, (४७)चांदी, (४८) कडमियम, (४६) इंडियम, (५०) टिन, (५१) सुर्मा, (५२) तेलरियम, (५३) आयोडीयन, (५४) वेसेनम, (५५) सएशियम, (५६) वेरियम, (५७) लन्थनियम, (५८) सेरियम, ५६) प्रसेड्रोडियम, (६०) न्योडिमियम, (६१) इलिनियम, (६२) समरियम, (६३)यूरोपियम, (६४) गडिनियम, (६५) टवियम, (६६) डिप्रोसिम, (६७) होमियम, (६८) एर्बियम, (६६) यूलियम, (७०) उतेर्वियम, (७१) लुतेसियम, (७२) हाफनियम, (७३) तन्तालुम, (७४) तुङ्स्तेन, (७५) रहेनियम, (७६)

ओसमियम, (७७) इरिडियम, (७८) प्लाटिनम, (७६) सोना, (८०) पारा, (८१) थलियम, (८२) सीसा, (८३) विस्मथ, (८४) प्लोमियम, (८५) अस्टेटिन, (८६) रडोन, (८७) फ्रांसियस, (८८) रेडियम, (८६) अक्टीनियम्, (६०) प्रोटो अक्टीनियम, (६१) थोरियम, (६२) यूरेनियम, (६३) नेप्चूनियम, (६४) प्लूटोनियम, (६५) अमेरिसियम, (६६) क्यूरियम, (६७) वर्केलियम, (६८) कैलीफोर्नियम, (६६) आइंस्टोनियम, (१००) फरमियम, (१०१) नोवेलियम, (१०२) लेवेरिशियम, (१०३) हेफ्जियम। इन तत्त्वों की संख्या में वृद्धि होती जा रही है। अभी एक नये तत्त्व का पता चला है। जिसका नाम प्रोमीथियम (*Promethium*) है। इसके विषय में वैज्ञानिकों का मत इस प्रकार है—

प्रोमीथियम् वह दुष्प्राप्य पदार्थ है जिसकी मात्र उपस्थिति ही परमाणु भंजन की क्रिया के अन्तर्गत खोजी गई है। अभी तक यह प्राप्त नहीं किया जा सका है। प्लोटोनियम्, थोरियम् और यूरेनियम् के विघटन में यह विशेष रूप से विद्यमान रहता है। अनुमान है कि इस पदार्थ का मूल्य प्रति ग्राम दो खरब रुपया होना चाहिये। आप प्रोमीथियम के मूल्य का अनुमान इसी से लगा सकते हैं कि इसकी केवल एक तोला मात्रा का मूल्य लगभग पच्चीस खरब रुपये होता है। जिसका एक प्रतिशत मासिक दर से ब्याज एक वर्ष में ३ खरब रुपये होता है।

विज्ञान के उपर्युक्त तात्त्विक वर्गीकरण की मान्यता में बड़ा परिवर्तन हो गया है। अब इनमें से कोई भी मौलिक तत्त्व नहीं माना जाता है। अब सारे ही तत्त्व 'विद्युत' की देन सिद्ध हो गये हैं। विद्युत ही सब तत्त्वों या पदार्थों का मूलभूत उपादान स्वीकार कर लिया गया है। विद्युत् के दो रूप हैं धन विद्युत् अर्थात् प्रोटोन (Proton) और ऋण विद्युत् अर्थात् इलेक्ट्रोन (Electron)। यह नियम है कि प्रत्येक अणु में प्रोटोन को केन्द्र बनाकर इलेक्ट्रोन उसके

चारों ओर घूमते हैं तथा अणु के केन्द्र में जितने प्रोटोन होते है उतनी संख्या में उसके परिभ्रमण करने वाले इलेक्ट्रोन होते हैं। प्रोटोन के संघटन से अणुओं का निर्माण होता है। जिस तत्त्व के अणु जितने प्रोटोन वाले होते हैं, वह तत्त्व उसी नम्बर का कहा जाता है उदाहरणार्थ—तांबे के अणुओं के केन्द्र में २६ प्रोटोन होते हैं, अतः वह २६ नम्बर का, चाँदी के अणुओं के केन्द्र में ४७ प्रोटोन होते हैं अतः वह ४७ नम्बर का, सोना के अणुओं के केन्द्र में ७६ प्रोटोन होते हैं अतः वह ७६ नम्बर का तत्त्व है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि विज्ञान जगत् में तत्त्वों की संख्या उनके अणुओं के केन्द्र में रहे हुए प्रोटोन की संख्या पर निर्भर करती है। वैज्ञानिकों ने प्रयोगों द्वारा अणुओं के केन्द्र में स्थित प्रोटोनों की संख्या को घटाकर एक तत्त्व को दूसरे तत्त्व में परिणत कर दिखाया है। इसी प्रक्रिया से वैज्ञानिक बेंजामिन ने पारे को सोने में परिणत कर यह प्रमाणित कर दिया है कि सब तत्त्व परस्पर बदले जा सकते है और ये सब विद्युत् की मात्रा के तारतम्य के ही विविध रूप हैं। अर्थात् एक ही प्रकार के मूलभूत परमाणुओं से निर्मित हैं। इस प्रकार विज्ञान जगत् में जैन दर्शन का यह सिद्धान्त स्वतः सिद्ध हो गया है कि विश्व के समस्त पदार्थों का निर्माण एक ही प्रकार के परमाणुओं से हुआ है और वे सोना, चांदी, पारा, लोहा आदि समस्त पार्थिव द्रव्यों के रूप में परिणत हो सकते हैं।

विज्ञान सम्पूर्ण पुद्गल द्रव्य (Matters) के तीन वर्ग करता है—ठोस (Solids) द्रव (Liquids) और गैस (Gases)। विज्ञान यह भी मानता है कि इन तीनों वर्गों के पुद्गल सदा अपने अपने वर्ग में नहीं रहते प्रत्युत अपना वर्ग छोड़कर रूप बदलकर दूसरे वर्गों में भी जा सकते हैं। पुद्गल का यह परिणमन कार्य दो प्रकार से होता है—स्व वस्तु रूप और अन्य वस्तु रूप परिणति से। उदाहरण के लिए जल को ही लिया जाय, यह बर्फ के रूप में ठोस, धारा के रूप में द्रव व वाष्प

के रूप में गैस में परिणत हो जाता है। जल का यह परिणमन स्व वस्तु रूप है और जल जो कि द्रव (Liquid) पुद्गल है, वनस्पति का आहार बन ठोस पुद्गल बन जाता है और वैज्ञानिक प्रयोग द्वारा विश्लेषण किए जाने पर हाइड्रोजन और आक्सीजन गैसों के पुद्गलों में परिणत हो जाता है। जल का यह परवस्तु रूप परिणमन है। इस उदाहरण से जैनदर्शन की यह मान्यता स्पष्ट व पुष्ट हो जाती है कि पुद्गल स्ववस्तु रूप तथा अन्यवस्तु रूप में परिणमनशील है।

आशय यह है कि सृष्टि की प्रत्येक वस्तु चाहे वह सूर्य से सैकड़ों गुणा बड़ा सितारा हो या एक इंच के अंशवें भाग से भी छोटा परमाणु हो अथवा उससे भी लाखों गुणा छोटा, उसी परमाणु के उदर में स्थित न्युक्लियस हो, चाहे वह ठोस, द्रव, वायव्य दशा में हो अथवा विद्युत् प्रकाश आदि शक्ति रूप दशा में हो पुद्गल परमाणु से ही बनी हुई है और उसका केवल रूप परिवर्तन होता है, आत्यंतिक नाश कदापि नहीं होता है।

स्कन्ध

भौतिक विज्ञान का विषय भूत (पदार्थ) जैनदर्शन में पुद्गल शब्द से अभिहित है। समस्त लोकवर्ती पुद्गल द्रव्य पुद्गलास्तिकाय कहा जाता है। पुद्गल के भेद इस प्रकार हैं—

जे रूवी ते चउविहा पण्णत्ता-
खंध, खंध देसा, खंध पयेसा, परमाणु पोग्गला।

—भगवती शतक २।१०।६६

अर्थात् पुद्गल के चार भेद हैं—१. स्कंध, २. स्कंध देश, ३. स्कंध प्रदेश और ४. परमाणु।

स्कंध—(molecule) मूर्त्त द्रव्यों की एक इकाई स्कंध है अर्थात् दो परमाणुओं से लेकर अनन्त परमाणुओं का एकीभाव या पिण्ड स्कंध

कहलाता है। स्कंध का खण्ड भी स्कंध कहलाता है।

स्कंध देश—स्कंध का कोई भी अंश या खण्ड (part) जो अपने अंगी से पृथग्भूत न हो, स्कंध देश कहा जाता है।

स्कंध प्रदेश—स्कंध का एक परमाणु जो अपने अंगी से पृथग्भूत न हो, स्कंध प्रदेश कहलाता है।

परमाणु—स्कंध का वह अंतिम भाग जो विभाजित नहीं हो सकता, परमाणु है। जब तक वह स्कंध गत है प्रदेश कहलाता है और पृथग् अवस्था में परमाणु कहलाता है।

पहले कह चुके हैं कि दो या दो से अधिक परमाणुओं का पिण्ड स्कन्ध है। इसके साथ इतना और जोड़ना होगा कि यह पिण्ड परमाणुओं के एकीभाव से, स्कन्धों के एकीभाव से अथवा स्कन्धों के विघटन के परिणाम स्वरूप भी हो सकता है। घट, पट, चटाई, स्याही, पृथ्वी, जल, हवा आदि समस्त भौतिक पदार्थ यहां तक कि इन्द्रियां, शरीर, मन, इन्द्रियों के विषय और श्वासोच्छ्वास आदि सब कुछ स्कन्ध के ही रूप हैं।[1]

यह दृश्य विश्व परमाणुओं के संघटन की ही देन है। परमाणुओं से स्कन्ध बनते हैं और स्कन्धों से स्थूल पदार्थ। पुद्गल में संघातक और विघातक—ये दोनों शक्तियां हैं। पुद्गल शब्द ही 'पूरण और गलन' इन दोनों का द्योतक है। परमाणु के मेल से स्कन्ध बनता है और एक स्कन्ध के टूटने से भी अनेक स्कन्ध बन जाते हैं। पुद्गल में अगर पूरण गुण अर्थात् संयोजक शक्ति न होती तो ये परमाणु अलग-अलग बिखरे पड़े रहते, उनसे किसी भी पदार्थ को रचना नहीं हो पाती और गलन गुण अर्थात् वियोजक शक्ति न होती तो सब परमाणु मिलकर मात्र एक पिण्ड बन जाते और अलग-अलग पदार्थ

---

१ "शरीरवाङ्मनःप्राणापानाः पुद्गलानाम्" —तत्त्वार्थ सूत्र ५।१६

रूप न लेते । तात्पर्य यह है कि विश्व के पदार्थों की विविधता, विभिन्नता व विलक्षणता के मूल में पुद्गल के पूरण और गलन ये दोनों स्वभाव ही हैं ।

जैनदर्शन में वर्णित स्कन्ध-रचना के उपर्युक्त सिद्धान्त का विज्ञान पूर्ण समर्थन करता है । पहले पुद्गल के पूरण (मिलन) गुण से होने वाली स्कन्ध-रचना के उदाहरण पेश किये जाते हैं यथा—

(१) जल को जैनदर्शन मौलिक व स्वतन्त्र तत्त्व न मानकर स्कन्धों के मिलने से बनने वाला पदार्थ मानता है । विज्ञान भी इससे पूर्णतः सहमत है जैसा कि जल के स्कन्धाणु की रचना के वैज्ञानिक विश्लेषण से स्पष्ट है—आक्सीजन के एक अणु में आठ आवेश शून्य और आठ धन आवेश वाले न्युक्लीओनों से केन्द्र-कण की रचना होती है । इसके चारों ओर आठ इलेक्ट्रोन परिभ्रमण करते हैं । हाइड्रोजन के एक अणु में एक धन आवेश वाला न्युक्लीओन होता है जिसके चारों ओर एक ही इलेक्ट्रोन घूमता है । दो हाइड्रोजन के अणु और एक आक्सीजन का अणु मिलने पर पानी का एक स्कन्धाणु बनता है ।

(२) नमक को भी जैनदर्शन स्कन्धों के मिलनजन्य पदार्थ मानता है । आधुनिक वैज्ञानिक विश्लेषण के अनुसार नमक के स्कन्धाणु की रचना निम्न प्रकार है—

बारह आवेश शून्य और ग्यारह धन आवेश वाले न्युक्लीओनों से सोडियम के केन्द्र-कण का निर्माण होता है । इसके चारों ओर घूमने वाले ग्यारह इलेक्ट्रोन होते हैं । इस प्रकार सोडियम के एक अणु का निर्माण होता है । क्लोरीन में अठारह या बीस आवेश शून्य और सतरह धन आवेश वाले न्युक्लीओनों से केन्द्र कण तथा सतरह घूमने वाले इलेक्ट्रोनों से एक अणु बनता है । एक सोडियम और एक क्लोरीन का अणु मिलने से एक स्कन्धाणु का निर्माण होता है ।

(३) हाइड्रोजन के दो स्कंध (H_2) गंधक का एक स्कंध (S) तथा आक्सीजन के चार स्कंध (O_4) मिलाने पर H_2So_4 तेजाब बन जाता है।

इस प्रकार स्कंधों के मिलन से नवीन पदार्थ की रचना होने के उदाहरणों से विश्व भरा पड़ा है। आगे पुद्गल के गलन स्वभाव अर्थात् स्कंधों के विच्छेद से नवीन पदार्थ की रचना होने विषयक उदाहरण प्रस्तुत किये जाते हैं, यथा—

(१) ऊपर जो पुद्गल के पूरण (मिलन) गुण से होने वाले स्कन्ध निर्माण के उदाहरणों में जल, नमक, H_2So_4 तेजाब रचना के उदाहरण दिये गये हैं। इन्हीं पदार्थो का विज्ञानशालाओं में विश्लेषणात्मक प्रयोग करने पर वे ही पदार्थ वापिस उपलब्ध हो जाते हैं जिनसे इनका निर्माण हुआ है।

(२) सन् १९४१ में वैज्ञानिक बेंजामिन ने पुद्गल के गलन स्वभाव अर्थात् विच्छेदात्मक प्रयोग कर पारे को सोने के रूप में परिवर्तित कर विश्व को विस्मित कर दिया था। पारे के अणु का भार दो सौ अंश होता है। उसे एक अंश भार वाले विद्युत् प्रोटोन से विस्फोटित किया गया जिससे वह प्रोटोन पारे में लय हो गया और उसका भार २०१ हो गया। तत्क्षण स्वतः उस लय अणु की मूल धूल से एक अलफा बिन्दु अलग हो गया। जिसका भार चार अंश था। फलस्वरूप पारे का भार दो सौ एक अंश में से चार अंश घटने से एक सौ सतानवे अंश हो गया। एक सौ सतानवे अंश भार वाला स्कंधाणु या पदार्थ हो तो वह सोना होता है।

इसी प्रकार सन् १९५३ में प्लेटिनम को सोने में रूपांतरित करने में अनेक प्रयोगशालाओं ने सफलता प्राप्त की है।

(३) यूरेनियम विज्ञान जगत् में एक बहुमूल्य, सुप्रसिद्ध एवं रेडियो

स्कन्ध के तीन भेद

पुद्गल या स्कंध परिणमनशील है। यह परिणमन-स्वयमेव तो होता ही है जीव के निमित्त से भी होता है, इस परिणमन प्रक्रिया की दृष्टि से स्कंध के तीन भेद कहे गये हैं यथा—

'तिविहा पोग्गला पण्णत्ता, पओगपरिणया,
वीससापरिणया, मीसापरिणया। —भगवती सूत्र ८।१।१

अर्थात् तीन प्रकार से पुद्गल परिणमन को प्राप्त होते हैं—(१) प्रयोग-परिणत (२) विस्रसा-परिणत (३) मिश्र-परिणत।

प्रयोग-परिणत (Organic Matter)—ऐसे पुद्गल जो जीव के संयोग से परिणमन को प्राप्त हुए हैं, प्रयोग परिणत कहे जाते हैं जैसे—इन्द्रियाँ, शरीर, रक्त आदि।

विस्रसा-परिणत (Inorganic Matter)—ऐसे पुद्गल जिन्होंने अपना परिणमन स्वयमेव किया है, विस्रसा परिणत कहे जाते हैं जैसे—बादल, इन्द्रधनुष आदि।

मिश्र-परिणत—ऐसे पुद्गल जो जीव द्वारा परिणमन को प्राप्त हुए हों, किन्तु अब स्वयमेव परिणमन कर रहे हों, मिश्र-परिणत कहे जाते हैं जैसे कटे हुए नख, केश, मल, मूत्र आदि।

आधुनिक विज्ञान भी उपर्युक्त पुद्गल-स्कंधों के भेदोपभेद के स्वरूप को कथंचित् स्वीकार करता है। जैनदर्शन में निरूपित स्कंध-स्वरूप स्कंध संरचना परिणमन-प्रक्रिया तथा स्कंध के भेद आदि विषयक जो मौलिक सिद्धान्त हैं उन्हें वैज्ञानिक अनुसंधानों ने भी सत्य प्रमाणित कर दिया है।

परमाणु

भगवान् महावीर ने पुद्गल के भेद इस प्रकार बताये हैं।

खंधा य खंधदेसा य तप्पएसा तहेव य
परमाणुणो य बोधव्वा, रुविणो य चउव्विहा ।।

—उत्तरा. अध्ययन, ३६ गा. १०

अर्थात् रूपी द्रव्य के स्कन्ध, देश और परमाणु ये चार भेद हैं। मूर्त्त द्रव्य की एक इकाई स्कन्ध है अर्थात् दो से लेकर अनन्त परमाणु का एकीभाव स्कन्ध है, स्कन्ध के मनोनीत एक भाग को देश तथा स्कन्धगत निरंश अवयव को प्रदेश कहा जाता है। पुद्गल का यही निरंश अवयव स्कन्ध से पृथक् स्वतन्त्र इकाई की अवस्था में होता है तो परमाणु कहा जाता है। प्रदेश और परमाणु में केवल स्कन्ध से पृथक्भाव और अपृथक्भाव का ही अन्तर है।

यह दृश्य जगत् भौतिक जगत्-परमाणुओं का ही संघटित रूप है। परमाणुओं के समुदाय के स्कन्ध बनते हैं और स्कन्धों के मेल से स्थूल पदार्थ। स्कन्ध और स्थूल पदार्थ टूटकर अनेक स्कन्ध बन जाते हैं। इस प्रकार का संयोग और वियोग अर्थात् पूरण और गलन पुद्गल का मूल गुण है। यदि पुद्गल में वियोजक शक्ति न होती तो सब अणु एक पिण्ड बन जाता और यदि संयोजक शक्ति न होती तो प्रत्येक अणु भिन्न भिन्न रहता और स्कन्ध रूप वस्तु का निर्माण संभव न होता। समस्त दृश्य विश्व परमाणुओं के संघटन व विघटन का ही खेल है।

परमाणु का स्वरूप शास्त्र में इस प्रकार कहा है—"दव्वपरमाणू णं भंते! कइविहे पण्णत्ते? गोयमा! चउव्विहे पण्णत्ते तंजहा-अच्छेज्जे, अभेज्जे, अडज्झे, अगेज्झे। —भगवती श. २० उ. ५

"भगवन्! द्रव्य परमाणु कितने प्रकार का कहा गया है। उत्तर में भगवान् बताते हैं कि हे गौतम! चार प्रकार का कहा गया है—अच्छेद्य, अभेद्य, अदाह्य और अग्राह्य।" किसी भी उपाय, उपाधि व उपचार से उसका विभाजन संभव नहीं है। परमाणु की सूक्ष्मता के विषय में आगम में कहा है—

परमाणुपोग्गले णं भंते ! किं समड्ढे समज्झे, सपएसे ? उदाहु अणड्ढे, अमज्झे, अपएसे, नो सड्ढे, समज्झे, नो सपएसे।

—भगवती श. ५ उ. ७

भगवन् ! क्या परमाणु पुद्गल सार्ध, समध्य, सप्रदेशी है अथवा आर्ध, अमध्य, अप्रदेशी है ? भगवान् ने कहा—हे गौतम ! परमाणु पुद्गल अनर्ध, अमध्य, अप्रदेशी है, सार्ध, समध्य, सप्रदेशी नहीं है। अर्थात् परमाणु में न लम्बाई है, न चौड़ाई है और न गहराई है, वह केवल इकाई या घटक रूप है। अति सूक्ष्म होने से परमाणु का आदि, अन्त और मध्य एक ही कहा गया है यथा—

'सोक्ष्मादयः आत्ममध्याः आत्मांताश्च।' —राज वार्तिक ५/२५/१

रूविअजीव पज्जवाणं भंते ! कइविहा पण्णत्ते। गोयमा चउव्विहा पण्णत्ते तंजहा खंधदेसा, खंधपएसा, परमाणुपोग्गला।

—पन्नवणा पद ५ सूत्र २१

अन्तादि अन्तमज्झं अन्तेणेव इन्दियगेज्झं। जं दव्वं अविभागी तं परमाणु-सर्वार्थसिद्धि ५/२५

अर्थात् परमाणु अति सूक्ष्म है अतः वह स्वयं आदि है, स्वयं ही मध्य है और स्वयं ही अन्त है, जो इन्द्रियों से अग्राह्य व अविभागी है ऐसे द्रव्य को परमाणु जानना चाहिये। आशय यह है कि जैनदर्शन में वर्णित परमाणु कल्पनातीत सूक्ष्मता लिये हुए है।

विज्ञान परमाणु को कितना सूक्ष्म मानता है इसका अनुमान इस बात से लग जाता है कि वहां चौदह शंख परमाणुओं का भार लगभग एक तोला है। बालू के एक छोटे से कण में दस पदम से अधिक परमाणु होते हैं। पिन के सिरे में ५५,०००,०००,०००,०००,०००,

००० परमाणु समा जाते हैं।[1] सोडा वाटर को गिलास में डालने पर जो छोटी-छोटी बूंदें निकलती हैं उनमें से एक बूंद के परमाणुओं को गिनने के लिये संसार के तीन अरब व्यक्तियों को बिठाया जाय और विना खाये-पिये-सोये लगातार प्रति मिनट तीन सौ की चाल से गिनते जायं तो उस नन्ही बूंद के परमाणुओं की समस्त संख्या को समाप्त करने में चार महीने लग जायेंगे।[2] परमाणु का व्यास एक इन्च का दस करोड़वां हिस्सा माना जाता है। रूस की लेनिनग्राद वेधशाला में स्थित 'क्वार्टस' नामक तराजू—जो एक ग्राम का दस अरबवां भाग तक सही तोल सकती है—से बाल प्वाइन्ट पेन से कागज पर लगाये गये एक बिन्दु को तोला गया तो वजन निकला .०००११५८ ग्राम[3]। यह है विज्ञान द्वारा अंकित पुद्गल की सूक्ष्मता।

सन् १८११ ई. तक यही समझा जाता था कि सोना, चांदी, आदि द्रव्यों के सूक्ष्मतम अणु ही मूलभूत हैं। पश्चात् प्रसिद्ध वैज्ञानिक अवोगद्रा ने सर्वप्रथम अणु से परमाणु को अलग किया और वह विज्ञान जगत् में तत्त्वों का आदि उपादान माना जाने लगा परन्तु सन् १८६३ में. सर जे. जे. टामसन ने ठोस इकाई के रूप में माने जाने वाले परमाणु को पोला सिद्ध कर दिया। टामसन के शिष्य रदरफोर्ड ने परमाणु के भीतर एक नये द्रव्य 'इलेक्ट्रोन' को लगाया। इससे पुरानी मान्यता ढह गई।

परमाणु का वर्तमान स्वरूप—विज्ञान के नवीन अन्वेषणों ने परमाणु में, सौर मंडल की प्रक्रिया (Solar System) सिद्ध कर दी है। जिस प्रकार सूर्य के चारों ओर ग्रह (बुद्ध, गुरु, शुक्र आदि) निरन्तर अपनी कक्षा में परिभ्रमण करते हैं, इसी प्रकार परमाणु के कलेवर

---

१ नवनीत, मई १९६२, पृ. ७१

२ जैनदर्शन और आधुनिक विज्ञान, पृ. ४७

३ साप्ताहिक हिन्दुस्तान, १४ मई १९६७, पृ. १०

पदार्थ विज्ञान के सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक जी. ओ. जोन्स, जे. रोटब्लेट और जी जे. वीटरो ने अपनी पुस्तक में परमाणु के कलेवर में स्थित मौलिक तत्त्वों का विवेचन करते हुए लिखा है—

"Originally the name was applied to the four eliments—fire, earth, air and water. Latter it was thought that the Atom of each chemical elements was an elementary partial. Then the Atom was limited to three only. Proton, neutron and electron it was now turn extended to over twenty particles and still more may yet be discovered. At moment despite the remarkable progress made in nueclear physics, the riddle of elementary particles still remain unsolved."[1]

अर्थात् पहले पहल अग्नि, पृथ्वी, वायु और जल इन चार पदार्थों को मौलिक तत्त्व कहा गया। तत्पश्चात् यह सोचा गया कि प्रत्येक रासायनिक पदार्थ का मूलभूत अणु ही परमाणु है। उसके बाद प्रोटोन, न्यूट्रोन और इलेक्ट्रोन ये तीन मूल अणु माने जाने लगे और अब तो मूलभूत अणुओं की संख्या बीस तक पहुँच गई है। यह संख्या और भी आगे बढ़ सकती है। सत्य तो यह है कि मौलिक अणु क्या है यह पहेली अब तक सुलझ नहीं पाई है।

विज्ञान जगत् में परमाणु के गर्भ में स्थित कणों के विषय में एक नया तथ्य सामने आया है कि ये सब कण भी किसी एक ही मौलिक द्रव्य के रूपान्तर हैं। नोबल पुरस्कार विजेता, अमेरिका के स्टेनफोर्ड विश्वविद्यालय के डाक्टर राबर्ट हाफस्टेडटर का कथन है कि प्रोटोनों और न्यूट्रोनों कण वास्तव में अलग-अलग नहीं हैं बल्कि एक ही कण (जिसे न्युक्लियन कहते हैं) के दो रूप हैं।[2]

कुछ समय पूर्व ही विज्ञान-जगत् में अणु के नये घटक, 'एक जीरो' का पता चला है। इससे अणु रचना के सम्बन्ध में नया विचार सामने

---

1 Atom and Universe
२ नवनीत, मई १९६२, पृ ७२

आया है कि अणु के अलग-अलग मौलिक घटक नहीं हैं। एक ही मौलिक घटक अवस्थांतर से विभिन्न रूप ग्रहण करता है।[1]

अतः यह कहा जा सकता है कि आधुनिक विज्ञान, जैनदर्शन में प्रतिपादित इस सिद्धान्त का पूर्ण समर्थन करता है कि विश्व के समस्त भौतिक पदार्थों का मूल उपकरण या उपादान एक ही तत्त्व है, जिसे परमाणु कहा जाता है।

जैनदर्शन के अनुसार अच्छेद्य, अभेद्य, अग्राह्य और अविभागी पुद्गल को परमाणु कहा जाता है। आधुनिक विज्ञान के छात्र को परमाणु की इस परिभाषा में सन्देह हो सकता है, कारण कि वैज्ञानिक प्रयोगों द्वारा परमाणु के कलेवर में स्थित कणों को अलग किया जा सकता है जैसा कि पारा के परमाणु में से तीन इलेक्ट्रोनों को अलग कर उसे सोने में परिणत कर दिया गया। अणु-भेदन में भी यही क्रिया चलती है अतः परमाणु की अविभाज्यता अब सुरक्षित नहीं रही है।

परमाणु अगर अविभाज्य न हो तो वह परमाणु नहीं कहला सकता और यह भी सही है कि विज्ञान सम्मत परमाणु टूटता है। इस समस्या का समाधान जैनदर्शन में उपलब्ध है। जैन ग्रन्थ 'अनुयोग द्वार' में परमाणु का वर्णन करते हुए कहा है—

परमाणु दुविहे पण्णत्ते, तंजहा-सुहुमे य ववहारिये य।
अणंताणं सुहुमपरमाणुपोग्गलाणं समुदय समिति समागयेण ववहारिए परमाणु पोग्गले निफ्फजंति —अनुयोग, प्रमाण द्वार

अर्थात् परमाणु दो प्रकार के होते हैं—सूक्ष्म परमाणु और व्यावहारिक परमाणु। सूक्ष्म परमाणु की परिभाषा ऊपर कही गयी है। व्यावहारिक परमाणु अनन्त सूक्ष्म परमाणुओं के समुदाय से बनता है।

---

१ नवनीत, जुलाई १९६३, पृ. ३९

व्यावहारिक परमाणु स्वयं परमाणुओं के समवाय या समुदाय का पिण्ड है अतः आदि, मध्य और अन्त वाला है, तथा जो आदि, मध्य और अन्त वाला है उसका विभाजन भी संभव है फिर भी इसे परमाणु कहा है इसका कारण यह है कि उसमें सूक्ष्म परमाणु की परिभाषा सामान्य दृष्टि से घटित होती है। अर्थात् वह सामान्य यंत्रों से न तो छेदा जा सकता है, न विभाजित ही किया जा सकता है और न साधारण दृष्टि से ग्राह्य ही है। अतः व्यवहारतः इसे परमाणु कहा गया है। जैनदर्शन में वर्णित इस व्यावहारिक परमाणु और विज्ञान से प्रतिपादित परमाणु में समता है, अतः विज्ञान के परमाणु की तुलना व्यावहारिक परमाणु से ही जा सकती है।

आशय यह है कि सहस्रों वर्ष पूर्व जैनदर्शन में परमाणु विषयक जो स्वरूप व मान्यताएं प्रतिपादित हैं, विज्ञान ने अपने क्रमिक विकास में एक एक करके उन सबका समर्थन कर दिया है।

पुद्गल शक्ति

जैनदर्शन में शब्द, आतप, उद्योत आदि को भी पुद्गल का ही रूप माना गया है। परन्तु विज्ञान जगत् में इन्हें शक्ति रूप में स्वीकार किया गया था तथा शक्ति तत्त्व या पदार्थ नहीं माना गया था। तत्त्व और शक्ति दो सर्वथा भिन्न समझे जाते थे। परन्तु कुछ समय पूर्व विज्ञान को अपनी इस मान्यता का छोड़ना पड़ा। वर्तमान युग के महान् विज्ञानवेत्ता आइन्सटीन ने गणितीय विधियों से यह सिद्ध किया कि पदार्थ कुछ नहीं ऊर्जा या शक्ति है और ऊर्जा कुछ नहीं पदार्थ है। उन्होंने यह भी सिद्ध किया कि प्रकाश को पदार्थ रूप में बदला जा सकता है। हम जानते हैं कि प्रकाश पदार्थ नहीं है, शक्ति (Energy) है। पर जब शक्ति [illegible] रूप में बदला जा सकता

सकता है, जैसे विद्युत शक्ति को बल्ब में विद्युत निरोधक तन्तु (Resistentwire) की सहायता से प्रकाश-शक्ति में बदल कर, उसी विद्युत निरोधक तन्तु की सहायता से विद्युत को ताप शक्ति में बदलकर और उसी विद्युत धारा को लोहे पर लपेटे तार में से प्रवाहित करके चुम्बकशक्ति में बदलकर। पर यह शक्ति के पदार्थ रूप में बदलने का सिद्धान्त, अत्यन्त महत्वपूर्ण है।[1]

ऊर्जा का नाश नहीं होता, उसकी शक्लें बनती और बदलती रहती हैं। इसके रूप और नाम भी भिन्न होते हैं किन्तु वह होती एक ही है। यह नष्ट नहीं हुई, केवल उसने शक्लें बदल ली, यह ऊर्जा के परीक्षण का सिद्धान्त है।

रासायनिक सारूप्य के अभिव्यंजक समीकरण से भी स्पष्ट हो जाता है कि किस प्रकार एक ओर होने वाली रासायनिक प्रतिक्रिया समान रूप से दूसरी ओर भी होने लगती है और किस प्रकार दोनों ओर रासायनिक पदार्थ समान होते हैं, उदाहरण के लिए यह समीकरण लें $ZnO + H_2So_4 = ZNSo_4 + H_2o$ अर्थात् सल्फरिकएसिड जिन्कआक्साइड पर पड़ता है तब जो रासायनिक पदार्थ बनते हैं वे हैं जिन्क सल्फेट और पानी। दोनों ओर पदार्थों का सम्पूर्ण आणविक भार एक ही होगा। केवल दाहिने और बांये कुछ पदार्थों के आकार रूप स्थान-मात्र बदल जायेंगे। अतः उनके भिन्न नाम भी होंगे। वह पदार्थ, जिसने इन वस्तुओं को रूप और नाम प्रदान किया अक्षुण्ण रहेगा। आधुनिक विज्ञान ने हमें यह बतलाया है कि न तो पदार्थ की रचना की जा सकती है और न इसका विनाश ही संभव है।[2]

परमाणु का कितना भार कितनी शक्ति के रूप में परिणत होता है इसे समझने के लिए उद्जन बम की निर्माण क्रिया को लेते हैं।

---

१ कल्याण, अप्रेल १९६३, पृ. ८४०

२ जैन भारती, २१ मार्च १९६५, पृ. २०

उद्जन बम परमाणुओं के संयोग का परिणाम है। इसमें हाइड्रोजन के परमाणु को हीलियम के परमाणु में बदला जाता है। हाइड्रोजन पहला मौलिक तत्त्व है और हीलियम दूसरा। हाइड्रोजन के एक परमाणु का तोल १.००८ होता है अतः चार परमाणुओं का तोल ४.०३२ हुआ। किन्तु हीलियम परमाणु का तोल लगभग ४ ही रह जाता है। इसका तात्पर्य यह होता है कि हाइड्रोजन परमाणु से हीलियम परमाणु बनने में .०३२ अर्थात् १.३० भाग शक्ति के रूप में बदल जाता है। उस शक्ति को ताप के रूप में लें तो समझना चाहिये एक हाइड्रोजन के परमाणु से एक हीलियम के परमाणु बनने में जो ताप उत्पन्न होता है वह २७०० मन कोयले के जलने से उत्पन्न ताप के बराबर होता है। उसी तापशक्ति का समुदायीकरण हाइड्रोजन बम है।[1]

शक्ति पुद्गल-परमाणुओं का ही एक रूप है और वह भी उसी प्रकार भारवान है जिस प्रकार पुद्गल। शक्ति में भार होता है अतः व्यवहार में इसे भार शून्य माना जाता है। परन्तु विज्ञान जगत् में शक्ति में न केवल भार ही स्वीकार किया गया प्रत्युत् उसके तोल के लिए समीकरण (गाणतिक सूत्र) भी बना लिये हैं। तीन हजार टन पत्थर के कोयले को जलाने से जितना ताप उत्पन्न होगा या एक हजार टन पानी को वाष्प में परिणत करने के लिए जितने ताप की आवश्यकता होगी उसका भार १/३० ग्राम से भी कम होगा।

पदार्थ शक्ति में परिणत हो जाता है परन्तु शक्ति भी नष्ट न होकर पुनः पदार्थ में या अन्य किसी प्रकार विशेष में परिणत हो जाती है। प्रसिद्ध वैज्ञानिक एल. ए. फोल्डिंग अपनी थीसिस और एनर्जी पुस्तकों में लिखते हैं—*Energy is imperishable and immortal and therefore wherever and whenever energy see-*

---

१ ज्ञानोदय विज्ञान अंक, पृ. १३६

ms to vanish in performing certain mechanical and other works, it merely undergoes a transformation and reappears in a new form but the total quantity of energy still abides.

अर्थात् शक्ति अविनाशी और शाश्वत है इसलिए जहां कहीं भी नष्ट होती देखी जाती है, वहां नष्ट नही होती है प्रत्युत परिवर्तन लेती हुई, दूसरे रूप में प्रकट हो जाती है, परन्तु उस परिवर्तन में उसकी मात्रा अक्षुण्ण रहती है।

तात्पर्य यह है कि विज्ञान पदार्थ के रूपान्तर को स्वीकार करता है, परन्तु आत्यंतिक विनाश को नहीं। दूसरे शब्दों में वह पदार्थ को उत्पत्ति, व्यय व ध्रौव्य युक्त मानता है। इस प्रकार जैनदर्शन में प्रतिपादित 'सद् द्रव्यलक्षणम्' 'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्' रूप द्रव्य के स्वरूप का विज्ञान पूर्ण समर्थन करता है और इसे पदार्थ-शक्ति की सुरक्षा के सिद्धान्त (Principle of conservation of matter of energy) के रूप में मान्य करता है।

जर्मन विज्ञानाचार्य प्लांक ने अपने 'क्वांटम'-सिद्धान्त से यह प्रमाणित किया कि जिस प्रकार प्रकाश न तो पूर्णतः सूक्ष्म कणपुंज है और न पूर्णतः तरंग पुंज, प्रत्युत् दोनों है, उसी प्रकार यह सिद्धान्त विश्व के अन्य सब पदार्थों पर घटित होता है। यथा—

प्रकाश की तरह ही इलेक्ट्रोन तथा प्रोटोन नामक वैद्युतिक अणु भी जो विश्व में स्थित समग्र पदार्थों का मूल उपकरण है, कभी सूक्ष्म किरणों के रूप में हमारे सामने आते हैं और कभी सूक्ष्म तरंगों के रूप में। इन सब उदाहरणों से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि, पदार्थ जगत् के जो सूक्ष्मतम कण हैं, वे तरंगों के अतिरिक्त और कुछ नहीं हैं और इस प्रकार समग्र विश्व की मूल पार्थिव सत्ता तरंगमय है। इसी से एक दूसरे महत्त्वपूर्ण परिणाम पर हम पहुँचते हैं। यह हम जानते हैं कि पदार्थ के सूक्ष्मतम आधार हैं वैज्ञानिक अणु (इलेक्ट्रोन तथा प्रोटोन) और ये अणु सूक्ष्म विद्युत-तरग (अर्थात् विशुद्ध विद्युत)

के अतिरिक्त और कुछ नहीं। यह सभी जानते हैं कि विद्युत कोई पदार्थ नहीं बल्कि एक शक्ति है। अतएव पूर्वोक्त नये आविष्कार के फलस्वरूप पदार्थ और शक्ति का भेद मिट जाता है।[1] प्रोफेसर मैक्सबोर्न का कथन है कि—Energy and mass are just different names for uniformic unity. The sun losses in one year 1;38,00, 00,00,000 by its Radiation. —*Restless Universe*

अर्थात् शक्ति और पदार्थ एक ही वस्तु के दो पृथक्-पृथक् नाम हैं तथा रेडिएशन भी एक शक्ति है जो सूर्य से प्रवाहित होती रहती है और जिससे सूर्य प्रति वर्ष एक खरब अड़तीस टन पदार्थ (Mass) खोता है।

नये अनुसंधान ने यह प्रमाणित किया है कि शक्ति का अपना अलग वजन होता है, यद्यपि वह बहुत ही स्वल्प होता है। उदाहरण के लिये, यदि कोई ५०,००० टन वजन का जहाज एक घंटे में २५ मील की गति से चलता है, तो अपनी इस गतिशील अवस्था में उसका वजन केवल एक औंस का दस लाखवां हिस्सा बढ जाता है अर्थात् उसकी गतिशीलता का वजन बढ़ता है। एक मनुष्य अपने सम्पूर्ण जीवन काल में जो जो श्रम करता है उसके फलस्वरूप उसका वजन केवल एक औंस का ६० हजारवां भाग बढ़ जाता है।[2]

अब हम शक्ति उत्पन्न करने के लिए विविध तरंगों का अवलोकन करें। पहले हम सामान्य कोयले के जलने की प्रक्रिया को लें। इसमें कार्बन के स्कन्धाणुओं का आक्सीजन के स्कन्धाणुओं के साथ मिलन होता है। अत: कार्बन-आक्सीजन = कार्बन ओक्साइड + शक्ति। कार्बन और आक्सीजन के एक ग्राम मिश्रण से ९२० केलोरी[3] शक्ति प्राप्त

---

१ नवनीत, दिसम्बर १९५५, पृ. ३०

२ नवनीत, नवम्बर १९५५, पृ. ३१

३ केलोरी उष्णता मापने का एक माप है, एक ग्राम पानी का तापमान १ डिग्री सेंटीग्रेड बढाने के लिये जितनी उष्णता की आवश्यकता होती है, उसे १ केलोरी कहा जाता है।

होती है। अब यदि जलने की क्रिया के स्थान में हम कार्बन और आक्सीजन के अणु परस्पर मिलायें तो कार्बन[12]—आक्सीजन[16]—सिलोकोन[28]+'शक्ति'। इस प्रक्रिया में जो शक्ति मुक्त होगी, वह एक ग्राम मिश्रण से १४०० करोड़ केलोरी होगी, जो कि पूर्वोक्त प्राप्त शक्ति की अपेक्षा डेढ करोड़ होगी। यहाँ यह भूलना नहीं चाहिये कि सामान्य रासायनिक प्रक्रिया में स्कन्धाणुओं का मिलन जहाँ कुछ सौ डिग्री. तापमान में किया जा सकता है, वहाँ अणुओं के मिलन की प्रक्रिया को शुरू करने के लिये करोड़ों डिग्री तापमान की आवश्यकता होगी।[1]

तात्पर्य यह है कि विज्ञान-जगत् में अब पदार्थ व शक्ति में मौलिक भेद न रहकर केवल स्थूलत्व व सूक्ष्मत्व का ही भेद रह गया है। एक ही मौलिक तत्त्व पुद्गल का 'शक्ति' सूक्ष्म रूप है और ठोस, द्रव, और वायव्य स्थूल रूप। इस प्रकार प्रकारान्तर से विज्ञान ने प्रकाश, विद्युत, ताप आदि शक्तियों को पदार्थ मानकर जैन आगमों की इस मान्यता को कि ये पुद्गल हैं, पुष्ट कर दिया है।

पुद्गल बंध

'बन्ध' भी पुद्गल की पर्याय है। बन्ध का अर्थ है, बंधना, मिलकर एकरूप होना। अवयवों का परस्पर अवयव और अवयवी के रूप में परिणमन होना ही बन्ध कहा जाता है। संयोग में केवल अन्तर रहित अवस्थान होता है, किन्तु बंध में एकत्व होता है। दो या दो से अधिक परमाणुओं का भी बन्ध होता है और दो या दो से अधिक स्कन्धों का भी। परमाणुओं का स्कन्ध के साथ भी बंध होता है व पुद्गल परमाणुओं का जोव द्रव्य के साथ भी बंध होता है।

बन्ध के दो प्रकार हैं—(१) वैस्रसिक (२) प्रायोगिक। स्वा-

---

१ द्रष्टव्य, जैन भारती, २६ फरवरी १६६७, पृ. २०२

भाविक होने वाला बंध वैस्रसिक कहा जाता है, जैसे मेघ, इन्द्र धनुष, धन विद्युत आदि ।

बन्ध-प्रक्रिया—जैनाचार्यों ने बन्ध की प्रक्रिया का जो अत्यन्त सूक्ष्म विश्लेषण किया है वह विश्व में अनूठा है । विज्ञान के विकास के पूर्व इस विश्लेषण में विहित सिद्धांतों में निहित तथ्यों को बुद्धिगम्य करना व समझना भी गुरुतर कार्य था । परन्तु जैसे-जैसे विज्ञान प्रगति करता जा रहा है वैसे ही वैसे उन सिद्धांतों में अन्तर्हित रहस्य प्रकट होता जा रहा है । परमाणु से स्कन्ध, स्कन्ध से परमाणु और स्कन्ध से स्कन्ध किस प्रकार बनते हैं इस विषय में निम्नांकित नियम मुख्य हैं—

(१) 'भेदसंघातेभ्यः उत्पद्यन्ते ।' —तत्वार्थसूत्र ५.२६

अर्थात् स्कन्धों की उत्पत्ति कभी भेद से, कभी संघात से और कभी भेद-संघात से होती है । कुछ परमाणुओं का एक स्कन्ध से विच्छिन्न होकर दूसरे स्कन्ध से मिल जाना भेद कहलाता है तथा दो स्कन्धों या परमाणुओं का संयोग हो जाना संघात कहा जाता है और इन दोनों प्रक्रियाओं का एक साथ हो जाना भेद-संघात है ।

(२) 'भेदादणु ।' —तत्वार्थसूत्र ५.२७

अणु की उत्पत्ति केवल भेद प्रक्रिया से ही सम्भव है ।

(३) 'स्निग्धरूक्षत्वाद्बन्धः ।' —तत्वार्थसूत्र ५.३३

पुद्गल में पाये जाने वाले स्निग्ध और रूक्ष इन दो गुणों के कारण ही बन्ध सम्भव है ।

(४) 'न जघन्यगुणानाम् । —तत्वार्थसूत्र ५.३४

जिन परमाणुओं का स्निग्ध अथवा रूक्ष जघन्य हो अर्थात् न्यून-तम होकर एक अविभागी, प्रतिच्छेद रह गया हो उनका परस्पर बंध नहीं होता है ।

(५) 'गुणसाम्ये सदृशानाम् ।' —तत्वार्थसूत्र ५.३५

जिन परमाणुओं या स्कन्धों में स्निग्ध या रूक्ष गुण समान मात्रा में हो उनका परस्पर बन्ध नहीं होता ।

(६) 'द्वयधिकादिगुणानान्तु ।' —तत्वार्थसूत्र ५.३६

जिन परमाणुओं में स्निग्ध और रूक्ष गुणों की इकाइयों की संख्या में दो का अन्तर होता है उनमें अवश्य बन्ध होता है । जैसे आठ स्निग्ध गुण युक्त स्कन्ध का छह या दस स्निग्ध गुण स्कन्ध के साथ बन्ध संभव है

(७) 'बन्धेऽधिको पारिणामिको च ।'[1] —तत्वार्थसूत्र ५.३७

बन्ध की प्रक्रिया में संघात से उत्पन्न स्निग्ध या रूक्षता में से जो गुण अधिक परिमाण में होता है, नवीन स्कन्ध उसी गुण रूप में परिणत हो जाता है । उदाहरणार्थ—एक स्कन्ध तीस स्निग्ध गुण युक्त स्कन्ध और बत्तीस रूक्ष गुण युक्त स्कन्ध बने तो वह नवीन स्कन्ध रूक्ष गुण स्कन्ध रूप होगा । अथवा तीस अंश वाले स्निग्ध परमाणु के योग से अठाईस अंश वाला स्निग्ध परमाणु तीस अंश वाला हो जाता है ।

वैज्ञानिक समर्थन—यह बन्ध प्रक्रिया विज्ञान से मेल खाती है । जैन दार्शनिकों ने जैसे स्निग्धता और रूक्षता को बन्ध का कारण

---

१ नियम नं. ३-४-५-६-७ के लिये प्रज्ञापना परिणाम पद १३ सूत्र १८५ द्रष्टव्य है—
'वंधणपरिणामे णं मंते ! कतिविधे पण्णत्ते ? गोयमा ! दुविहे पण्णते तंजहा-णिद्ध बंधणपरिणामे लुक्खबंधणपरिणामे य—
समणिद्धयाए वंधो न होति समलुक्खयाएवि ण होति ।
वेमायणिद्धलुक्खत्तणेणं बंधो उ खंधाणं । १ ।
णिद्धस्स णिद्धेण दुयाहिएणं, लुक्खस्स लुक्खेण दुयाहिएणं ।
निद्धस्स लुक्खेण उवेइ बंधो, जहण्णवज्जो विसमो समो वा । २ ।

माना, वैज्ञानिकों ने भी धन विद्युत (Positive Charge) और ऋण विद्युत (Negative Charge) इन दो स्वभावों को बंधन का कारण माना है तथा जैसे जैनदर्शन परमाणु मात्र में स्निग्धता और रूक्षता मानता है, आधुनिक विज्ञान भी पदार्थ मात्र में धन विद्युत तथा ऋण विद्युत मानता है। इस प्रकार बंधन के विषय में जैन दार्शनिकों और आधुनिक वैज्ञानिकों के कथन में केवल शाब्दिक ही अन्तर रह जाता है। तत्वार्थसूत्र ५.३४—'न जघन्य गुणानाम्' की टीका सर्वार्थसिद्धि में आचार्य पूज्यपाद ने आकाश में चमकने वाली विद्युत की उत्पत्ति का विवेचन करते हुए कहा है-"स्निग्धरूक्ष गुणनिमित्तो विद्युत्।" अर्थात् विद्युत स्निग्धरूक्ष गुणों का परिणाम है। इससे स्पष्ट होता है कि स्निग्ध गुण से धन (Positive) विद्युत् और रूक्ष गुण से ऋण (Negative) विद्युत उत्पन्न होती है[1] और इन दोनों की विद्यमानता प्रत्येक पदार्थ में अनिवार्य है। इस प्रकार आणविक बंधन के कारणभूत सिद्धांत में जैनदर्शन और विज्ञान दोनों एकमत हैं। जैनदर्शन की भाषा में उसे स्निग्ध और रूक्ष गुणों का संयोग कहा है जब कि विज्ञान की भाषा में इसे धन और ऋण विद्युत का संयोग कहा गया है। यही नहीं, विज्ञान ने जैनदर्शन के इस सिद्धांत को—कि दो गुण से अधिक होने पर स्निग्ध का स्निग्ध के साथ और रूक्ष का रूक्ष के साथ बंध होता है—स्वीकार कर लिया है। विज्ञान ने भारी ऋणाणु (Heavy Electrons) को स्वीकार किया है। यह साधारण ऋणाणुकों से पचास गुना अधिक भारी होता है[2] उसे नेगेट्रोन (Negatrons) कहा जाता है। यह साधारण ऋणाणु का ही समुदाय है इसमें केवल ऋण, विद्युत ही होती है। इस प्रकार

---

१ डॉ बी. एन. शील का कथन है कि जैन दार्शनिक इस बात से पूर्ण परिचित थे कि पोजेटिव और नेगेटिव विद्युत कणों के मिलने से विद्युत उत्पन्न होती है। देखिये उनकी पुस्तक—Positive Science of Ancient Hindus

2 Science and Culture Nov. 1937

यह ऋणाणु का ऋणाणु के साथ अर्थात् रूक्ष का रूक्ष के साथ बंधन है।

तात्पर्य यह है कि विज्ञान-जगत् में अथक परिश्रम और अगणित आविष्कारों के पश्चात् आज पदार्थ-निर्माण प्रक्रियाओं के जिन सूत्रों का प्राकट्य हुआ है उन सूत्रों को जैनागम-प्रणेताओं ने सहस्रों वर्ष पूर्व उस समय ही प्रकट कर दिया था, जिस समय मानव समाज वर्तमान वैज्ञानिक उपकरणों, यंत्रों एवं आविष्कारों से सर्वथा अपरिचित था। वैज्ञानिक उपकरणों के अभाव में जैनागमकारों का यह प्रतिपादन करना कि—सोना, चांदी, तांबा, लोहा, वस्त्र, पात्र, धन-धाम आदि विश्व के समस्त दृश्यमान पदार्थों का निर्माण परमाणुओं के स्निग्ध व रूक्ष गुण के पारस्परिक संयोग का ही परिणाम है, आगम-प्रणेताओं के अतीन्द्रिय ज्ञान को ही परिलक्षित करता है।

पुद्गल के वर्णादि गुण

द्रव्य, गुण और पर्याय

द्रव्यमात्र गुण और पर्याय युक्त होता है। जैनागमों में इस विषय पर विस्तार से विवेचन किया गया है, यथा—

गुणाणमासओ दव्वं, एगदव्वस्सिया गुणा।
लक्खणं पज्जवाणं तु, उभओ अस्सिया भवे ॥ उत्तरा. २८.१

गुणपर्यायवद् द्रव्यम् —तत्त्वार्थ, ५.३८

अर्थात् द्रव्य गुणों का आश्रय होता है, गुण भी एक द्रव्य के आश्रित होते हैं। किन्तु पर्याय द्रव्य और गुण दोनों के आश्रित होती है। तात्पर्य यह है कि द्रव्य में गुण और पर्याय दोनों होते हैं।

चउव्विहे पोग्गलपरिणामे पन्नत्ते, तंजहा—वन्नपरिणामे, गंध परिणामे, रसपरिणामे, फासपरिणामे।—स्था. ४

"स्पर्शरसगन्धवर्णवन्तः पुद्गलाः।" —तत्त्वार्थ, सूत्र ५.२३

पुद्गल स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण वाले होते हैं अर्थात् ये पुद्गल के गुण हैं। जैन आगमों में वर्ण के मौलिक भेदों का विवेचन करते हुए कहा गया है—

वण्णओ परिणया जे उ, पंचहा ते पकित्तिया।
किण्हा नीला य लोहिया, हलिद्दा सुक्किला तहा।। उत्तरा. ३६.१६

वर्ण परिणति के पांच प्रकार हैं—काला, नीला, लाल, पीला और श्वेत। हमें साधारणतः वर्ण या रंग हजारों प्रकार के दृष्टिगोचर होते हैं, परन्तु वर्तमान विज्ञान ने यह सिद्ध कर दिया है कि सब रंगों का अन्तर्भाव उपर्युक्त पांच वर्णों में हो जाता है और इन्हीं वर्णों में से दो या दो से अधिक वर्णों के मिश्रण में बहुत से नये रंग बन जाते हैं।

वर्ण : पदार्थ का गुण

जैनदर्शन वर्ण को पदार्थ का गुण मानता है और यह ऊपर कह आये हैं कि द्रव्य गुण से युक्त और गुण द्रव्य के आश्रित होता है। अतः प्रत्येक परमाणु या पुद्गल स्कंध नियमतः वर्ण युक्त होता है। वर्ण रहित कोई भी परमाणु या पुद्गल नहीं हो सकता। उसका वर्ण उसकी प्रकृति का द्योतक होता है। विज्ञान ने आज इसे सिद्ध कर दिया है यथा—"वर्णक्रमदर्शीय विधियों में विश्लेषणात्मक क्षेत्र का विशेष महत्त्व तब प्रकट हुआ जब किरचोय ने १८५९ में वर्णक्रम (स्पैक्ट्रम) विश्लेषण का पता लगाया। उनकी शोध का सिद्धांत यह है कि किसी पदार्थ से निकलने वाला या उसके द्वारा ग्रहण किया जाने वाला वर्णक्रम उस पदार्थ की प्रकृति पर ही निर्भर होता है। इसलिए प्रत्येक परमाणु के अपने वर्णक्रम होते हैं और प्रत्येक अणु से निसृत होने वाले या उसके द्वारा ग्रहण किये जाने वाले वर्णक्रम से उसे जाना जा सकता है।[1]

१- कादम्बिनी, अगस्त १९६७, पृ. ४०

वर्ण के प्रकार—जैनदर्शन पांच वर्ण मानता है, परन्तु विज्ञान लाल, पीला और नीला मूलत: ये तीन वर्ण मानता है, वह श्वेत वर्ण को सब वर्णों के मिश्रण रूप में व कृष्ण वर्ण को वर्णों के अभाव रूप में मानता है। जैनदर्शन लाल, पीले, नीले इन तीनों वर्णों के साथ श्वेत व कृष्ण को भी मूल वर्ण मानता है। जैनदर्शन के पंच वर्णात्मक सिद्धांत की पुष्टि निम्नांकित वैज्ञानिक प्रयोग से होती है—

जब किसी भी पदार्थ को गर्म किया जाता है और उसका तापमान बढ़ता जाता है तो सबसे पहले यह वस्तु ताप विकिरण करती है तो ५००°c तक इसका रूप नहीं होता है इसलिए काला ही रहता है, फिर रूप में परिवर्तन होकर ७००°c पर लाल, १२००°c पर पीला और १५००°c पर श्वेत होता है। तापमान इससे अधिक किया जावे तो अंत में नीला रंग प्राप्त होता है। तात्पर्य यह है कि ये पांच वर्ण ऐसे प्राकृतिक वर्ण हैं जो किसी भी पुद्गल से विभिन्न तापमानों पर उद्भूत हो सकते हैं। इसलिए इन्हें पुद्गल के मूल गुण मानना पड़ेगा। इससे यह सिद्ध होता है कि प्राकृतिक रूप में तो वे ही पांच वर्ण या रंग हैं जो जैनागमों में वर्णित हैं।

जैनाचार्यों का वर्ण से तात्पर्य पुद्गल के उस मूलभूत गुण (Fundamental property) से है जिसका प्रभाव आंख की पुतली पर लक्षित होता है और मस्तिष्क में रक्त, पीत, श्वेत आदि का आभास कराता है। आप्टिकल सोसायटी आफ अमेरिका (Optical Society of America) ने वर्ण का वर्णन इस प्रकार किया है—Colour is a

General term for all sensations, arising from the activity of retina and its attached nervous mechanisms. It may be exemplified by the enumeration of Characteristic instances such as red, yellow, blue, black and white. —Prof G. R. Jain : Cosmology old and new.

अर्थात् वर्ण एक व्यापक शब्द है जो आंख के कृष्ण पटल और उससे सम्बद्ध शिराओं की क्रिया से उद्भूत आभास को सूचित करता

है—रक्त, पीत, नील, कृष्ण और श्वेत इसके उदाहरण हैं।

जैन दार्शनिकों ने वर्ण के अनन्त प्रभेद या उपभेद माने हैं। हम सौर वर्णपटल (Solar Spectrum) के वर्णों का तरंग प्रमाणों (Wave-lengths) की विभिन्न अवस्थितियों (Stages) की दृष्टि से विचार करें तो ये तरंगें अनंत होंगीं और इनके अनंत होने के कारण वर्ण भी अनंत सिद्ध होंगे। कारण कि यदि एक प्रकाश तरंग प्रमाण में दूसरी प्रकाश तरंग से अनंतवें भाग भी न्यूनाधिक होती है तो वे दो असमान वर्णों की द्योतक होती हैं। इस प्रकार वर्ण अनंत हैं। आधुनिक वैज्ञानिकों को दस लाख वर्णों की जानकारी है, परन्तु हमारी आँखें इन वर्णों में से केवल ३७८ वर्णों (रंगों) को ही देख पाने में समर्थ व सक्षम है। अनेक रंग ऐसे हैं जिन्हें देखकर अनुभव कर सकते हैं, परन्तु उनको कोई निश्चित नाम नहीं दे सकते।

वर्ण का दिखना अनुभूति पर निर्भर—वर्ण-विषयक एक महत्त्वपूर्ण बात यह भी है कि वर्ण का दिखना अनुभूति पर भी निर्भर करता है। इस सम्बन्ध में गेटे का एक अनुभव यहां प्रस्तुत किया जाता है। एक बार गेटे ने रात को सराय में घुसते समय गोरे रंग, काले बाल वाली एक स्वस्थ महिला को धुंधली रोशनी में बैठे देखा। वह गहरे लाल रंग की पोशाक पहने थी। उस महिला के जाने के पश्चात् गेटे सामने की सफेद दीवार पर एकटक देखता रहा। उसे ऐसा अनुभव हुआ कि उस स्थान पर एक काली मुखाकृति है, जिसके चारों ओर प्रभा मंडल है और उसकी पोशाक का रंग गहरा हरा है। ऐसा ही अनुभव साइकम लैम्प के प्रयोग में भी होता है। यदि हम लैम्प की ओर टकटकी लगाकर देखते रहें और फिर ऊपर छत की ओर देखें तो ऐसा लगेगा कि लैम्प का रंग बदल कर नीला, हरा हो गया है। इसका कारण यह है कि जब हमारी दृष्टि अधिक समय तक लाल प्रकाश पर टिकी रहती है तो आंखों की लाल रंग देखने वाली शक्ति थक जाती है। फिर सफेद दीवार

पर देखने से लाल रंग के अतिरिक्त अन्य सब रंग दिखाई पड़ते हैं। यही नहीं आंखें अनुभूति में संतुलन भी बनाये रखती हैं। यही कारण है कि किसी बड़े लाल कागज को सलेटी रंग के कागज के बराबर में रख दिया जाय तो सलेटी रंग के कागज पर हरे रंग की झलक दिखाई देगी।

वर्ण से प्रकृति भी प्रभावित—जैनदर्शन में यह भी माना गया है कि पुद्गल के गुणों से प्राणी प्रभावित होता है। पुद्गल (पदार्थ) के वर्ण में भी विशेषता देखी जाती है। वर्ण या रंग केवल अनुभूति को ही नहीं, प्रकृति (भावों) को भी प्रभावित करते हैं। काले रंग को देखकर मन में भय की भावना उत्पन्न होती है। लाल और नारंगी रंग से मन उल्लसित होता है। हरे रंग में शामक गुण होने के कारण वह हिस्टीरिया के रोगियों के लिए लाभदायक समझा जाता है। बम के धमाके आदि की भयानक आवाज से परेशान व्यक्ति को भी हरा रंग लाभप्रद सिद्ध होता है। रेलगाड़ियों के सिगनल के लाल-हरे रंग प्रयुक्त करने के पीछे भी यही तथ्य है। लाल रंग खतरे व भय का सूचक होता है और हरा रंग निर्भयता व शांति का द्योतक होता है। एक रंग हर व्यक्ति पर एकसा ही प्रभाव डाले यह आवश्यक नहीं है। लाल, गुलाबी, नारंगी, श्वेत रंग भले ही सामान्यतः अच्छे लगते हों लेकिन निरन्तर इनके देखने से चिढ़ व खीज उत्पन्न हो जाती है। यदि किसी कमरे में सब दीवारों, दरवाजों, खिड़कियों पर केवल सफेद रंग ही पुता हो तो उसे देखकर कोई व्यक्ति ऊब कर एकदम बाहर आना चाहता है। यदि उसे किसी कारणवश वहीं रहना पड़े तो मानसिक परेशानी के कारण उसके सिर में दर्द हो सकता है। गहरे व चमकीले लाल रंग के कारण आंखों में तनाव-थकान होती है।

वर्ण का मानव-मन पर प्रभाव—रंग मानव के मन को कितने प्रभावित करते हैं, यह इस उदाहरण से स्पष्ट हो जाता है कि एक

कम्पनी के कर्मचारी शौचालय तथा गुसलखाने में जाते तो बहुत अधिक समय तक वहां ठहर कर वापस लौटते थे। इससे कम्पनी के कार्य को बड़ा हर्ज हो रहा था। कम्पनी का स्वामी यह जानने के लिए बड़ा परेशान था कि क्या कारण है कि कर्मचारी शौचालय से इतना प्रेम करते हैं। उसने निदान हेतु एक विशेषज्ञ बुलाया। विशेषज्ञ ने उन स्थानों को पैनी दृष्टि से देखा और कम्पनी के मालिक को सामान्य-सा सुझाव देकर चला गया। मालिक ने उसके सुझाव को कार्यान्वित किया। इसका जादू का सा प्रभाव पड़ा। अब कोई कर्मचारी शौचालय या गुसलखाने में जाते तो कम-से-कम समय ठहर कर यथाशीघ्र लौट आते थे। मालिक ने विशेषज्ञ के सुझाव के अनुसार केवल इतना-सा किया था कि शौचालय की दीवारें हलके नीले रंग की थीं उन्हें गहरे हरे रंग से पुतवा दिया था। यह रंग आंखों को अखरने लग गया था।

गंध : मूलगुण

जैनागम में पुद्गल के चार परिणाम कहे गये हैं। उनमें दूसरा परिणाम गंध है। यह भी पुद्गल का मूलभूत गुण (Fundamental property) है, जिसका प्रभाव नासिका पर लक्षित होता है और मस्तिष्क में भली-बुरी गंध का बोध कराता है।

सूंघने की प्रक्रिया—गंध के स्वरूप को समझने के लिए सूंघने की प्रक्रिया को समझना आवश्यक है। सूंघने का कार्य नासिका से होता है। नासिका में दो घ्राण क्षेत्र होते हैं। प्रत्येक घ्राण क्षेत्र पीले वर्ण का एक वर्ग इंच के आकार वाला होता है, जिसमें करोड़ों छोटे-छोटे छिद्र होते हैं। पदार्थों के जो गंधवाही अणु उठते हैं ये घ्राण क्षेत्र के छिद्रों में प्रविष्ट होते हैं। घ्राण क्षेत्र में 'ट्राइजिमाइनस नर्व' और 'आलफैक्टरी नर्व' के दो प्रकार के तंत्रिका सूत्र होते हैं, जो गंधवाही अणुओं को अलग-अलग पहचानते हैं। प्रत्येक सूत्र के सिरे पर एक घ्राण कोशिका होती है और घ्राण कोशिका के सिरे पर

अत्यंत सूक्ष्म रोम-समूह होता है। ये रोम गंध का संदेश तंत्रिका-सूत्र को, तंत्रिका-सूत्र घ्राण-केन्द्रों को और घ्राण-केन्द्र वही संदेश मस्तिष्क तक पहुंचाते हैं। इस प्रकार प्राणी को गंध की अनुभूति होती है।

गंध के कण—गंध के कण विशेष प्रकार के होते हैं जो वायु के साथ नाक में पहुँचते हैं। ये कण बड़े अद्भुत होते हैं। अलकोहल में इतना जल मिला दिया जाय कि चखने पर उसमें और जल में कोई अन्तर ही मालूम न पड़े, फिर अलकोहल में पच्चीस हजार गुना जल और मिला दिया जाय तब भी सूंघने पर पता चल जाता है कि शुद्ध जल कौन-सा है और अलकोहल मिला जल कौन-सा है। इसका कारण है गंध के कण सांस के साथ आलफैक्टरी परदे पर स्थित अत्यंत महीन बालों तक पहुँचते हैं। इन बालों की जड़ों में बहुत संवेदनशील नाड़ी तंत्र होते हैं। गंध के कण इन्हीं तंत्रों द्वारा पहचाने जाते हैं। हर समय न जाने कितनी तरह के पदार्थों के गंध के कण हमारी सांस के साथ नाक में आते रहते हैं लेकिन कार्य में व्यस्त रहने के कारण हमें उनका पता नहीं चलता है, लेकिन जब हम ध्यान से सूंघने की विशेष चेष्टा करते हैं तो नाक के भीतर सूंघने वाले परदे के आस-पास का मार्ग सिकुड़ जाता है। इससे वहां से गुजरने वाली सांस परदे के साथ ज्यादा घर्षण करती है और हमें गंध का स्पष्ट अनुभव हो जाता है।

पदार्थों की सुगंध और सुगंध के पदार्थ

जैनदर्शन में गंध को भी वर्ण (रंग) के ही समान पुद्गल का एक परिणाम माना गया है। जिस प्रकार किसी भी वस्तु को प्रयत्न द्वारा किसी रंग में रंगा जा सकता है उसी प्रकार प्रत्येक वस्तु को प्रयत्न के द्वारा किसी भी गंध से वासित किया जा सकता है। वर्तमान में वैज्ञानिकों ने इस तथ्य को पा लिया है। उन्होंने इसी तथ्य से कोलतार जैसी वस्तु से भी सुगंध के घटक प्राप्त करने और उन्हें वांछित रूप से मिश्रित करके अनेक उच्चस्तरीय सुगंधियां बनाने में

सफलता प्राप्त कर ली है। यही नहीं, कस्तूरी जैसी दुर्लभ सुगंधित वस्तु भी प्रयोगशाला में कृत्रिम रूप से बनाई जाने लगी है और यह कृत्रिम कस्तूरी असली कस्तूरी से गुण में किसी प्रकार कम सिद्ध नहीं हुई है। आज के वैज्ञानिकों को सुगंध प्राप्त करने के लिए प्राकृतिक फूलों की आवश्यकता नहीं है। रासायनिक पदार्थों की सहायता से वे फूलों का इत्र तैयार कर सकते हैं तथा उन्होंने कुछ ऐसी सुगंधियां भी तैयार की हैं जो प्रकृति में कहीं नहीं पाई जाती हैं।

सुगंधित मोमबत्तियां—आज रसायनशास्त्री ऐसी मोमबत्तियां बनाने के लिए प्रयत्नशील हैं जो धीमे प्रकाश के साथ भीनी-भीनी सुगंध भी दें। ऐसी मोमबत्तियां कभी की बन गई होतीं परन्तु बात यहां आकर रुकी है कि ऐसी मोमबत्तियां सुगंध तो बिखेरती हैं लेकिन साथ ही ताप भी बहुत पैदा करती हैं। इस समस्या को हल कर लिया गया तो ऐसी मोमबत्तियां बन जायेंगी कि जिन्हें जलाने पर चन्दन, चमेली आदि की सुगंध भी आने लगेगी। विदेशों में ईंधन के रूप में काम आने वाले कुछ तेलों व गैसों में सुगंध मिला दी जाती है, जिनको जलाते ही चंदन, गुलाब आदि की सुगंध चारों ओर फैलने लगती है।

विज्ञापन और सुगंध—आज विज्ञापन को प्रभावशाली बनाने के लिए छापाखाने की स्याही में सुगंध मिलाई जाने लगी है। यदि आप किसी साबुन या अगरबत्ती का विज्ञापन पढ़ रहे हैं तो उस साबुन या अगरबत्ती की सुगंध भी आपकी नाक में पहुंचेगी। अब कागज के फूल भी वैसी सुगंध देंगे जैसी असली फूल देते हैं। प्लास्टिक आदि की वस्तुएं लकड़ी, चमड़े आदि की शक्ल और रंग की बनी होंगी और साथ ही लकड़ी, चमड़े आदि की गंध भी उनमें होगी।

सुगंध परिणति : दुर्गन्ध परिणति

जैनदर्शन में गंध के विषय में कहा गया है—

गंधश्रो परिणया जे उ, दुविहा ते वियाहिया ।
सुब्भिगंध परिणामा, दुब्भिगंधा तहेव य ॥—उत्तरा. ३६.१७

अर्थात् गंध परिणति दो प्रकार की होती है—सुगंध परिणति और दुर्गन्ध परिणति और प्रत्येक परमाणु या वस्तु में गंध होती ही है। विज्ञानजगत् ने इस कथन को अब प्रयोगों द्वारा भी सिद्ध कर दिया है।

गंध : पुद्गल का आवश्यक गुण

जैनदर्शन में गंध को पुद्गल का गुण माना है, जिसका मतलब होता है कि प्रत्येक पौद्गलिक वस्तु में गंध अवश्यमेव रहती है। यहां शंका उपस्थित की जा सकती है कि पृथ्वी, जल, हवा, वनस्पति आदि में तो गंध प्रत्यक्ष देखी जाती है, परन्तु क्या अग्नि जैसे शक्ति-रूप माने जाने वाले पदार्थों में भी गंध संभव है? यह सही है कि अग्नि जैसे शक्तिरूप अर्थात् सूक्ष्म पदार्थों की गंध हमारी नासिका द्वारा लक्षित या ग्रहण नहीं होती परन्तु गन्धवहन प्रक्रिया से स्पष्ट है कि गंध पुद्गल का आवश्यक गुण है। एक गंधवाहक यन्त्र (Tele-olfactory call) का आविष्कार हुआ है जो गन्ध को लक्षित भी करता है तथा प्रेषित भी। यह यन्त्र मनुष्य की नासिका की अपेक्षा बहुत संवेदनशील होता है तथा सौ गज दूरस्थ अग्नि को लक्षित करता है। इसकी सहायता से फूलों आदि की गंध, तार द्वारा या बिना तार के ही किसी स्थान से ६५ मील दूर दूसरे स्थान तक प्रेषित की जा सकती है। स्वयं चालित अग्निशामक (Automatic fire Control) भी इससे चालित होता है। इससे स्पष्ट है कि अग्नि आदि जिन पदार्थों-पुद्गलों की गंध हमारी नासिका द्वारा लक्षित नहीं होती है, उनकी गंध भी अधिक शक्ति सम्पन्न यंत्रों से लक्षित हो सकती है। इससे यह सिद्ध होता है कि पुद्गल भाग गंध युक्त है।

रस गुण के पांच प्रकार

प्रत्येक पुद्गल या परमाणु को वर्ण और गंध गुण के समान रस

गुण युक्त भी माना गया है। जैनागम में रस के पांच भेद कहे गये हैं, यथा—

रसओ परिणया जे उ, पंचहा ते पकित्तिया।
तित्तकडुयकसाया, अंबिला महुरा तहा ॥ उत्तरा. ३६.१८

अर्थात् पुद्गल का रस-परिणमन पांच प्रकार का होता है, यथा—तीक्ष्ण, कटु, कसैला, खट्टा और मीठा। इन रसों का सम्बन्ध जिह्वा इन्द्रिय द्वारा ग्राह्य स्वाद से है।

स्वाद-ग्रहण की प्रक्रिया—*जीभ में स्वाद-ग्रहण की एक विशिष्ट* आंतरिक प्रक्रिया है। यह प्रक्रिया रासायनिक संवेद्यता कहलाती है। जीभ पर अगणित सूक्ष्म कोषों का एक जाल-सा फैला रहता है जो उभार से दिखाई पड़ता है। इन उभारों की डाल पर स्वाद-कलिकाएं होती हैं। प्रत्येक उभार पर इन कलिकाओं की संख्या ढाई सौ के लगभग होती है। ये विभिन्न प्रकार की होती हैं। प्रत्येक कलिका के ऊपरी सिरे से एक बहुत ही पतला तंतु निकलता है। स्वाद-कलिका के नीचे के सिरे का सम्बन्ध रक्त से होता है। आयु के बढ़ने के साथ स्वाद-कलिकाओं का स्थान भी बदलता रहता है। लघु शिशु की जीभ के अग्रिम भाग और गाल के नीचे ये कलिकाएं फँसी रहती हैं। पीछे ये स्वाद-कलिकाएं जीभ की पूरी लंबाई में फैल जाती हैं। युवावस्था में जीभ पर लगभग नौ हजार स्वाद-कलिकाएं होती हैं। परन्तु जैसे-जैसे व्यक्ति वृद्धावस्था को प्राप्त होता जाता है वैसे-वैसे स्वाद-कलिकाओं की संख्या कम होती जाती है और इसीलिए वृद्धावस्था में, भोजन करते समय स्वाद में कमी आ जाती है।

जब हम कोई खाने की वस्तु मुंह में रखते हैं तो जीभ की सभी स्वाद-कलिकाएं प्रभावित नहीं होती हैं। खट्टा, मीठा, खारा, कड़वा, कसैला स्वादों को ग्रहण करने वाली स्वाद-कलिकाएं भिन्न-भिन्न होती हैं। नमकीन स्वाद का संवेदन जीभ के सभी छोरों पर स्थित

कलिकाओं से होता है। मीठे का संवेदन जीभ की नोंक पर स्थित कलिकाओं से, कड़वे का संवेदन जीभ के पिछले भाग से, खट्टे का संवेदन जीभ की दो बगलों में स्थित कलिकाओं से होता है। परन्तु स्वाद की प्रक्रिया इतनी जटिल है कि इन सब संवेदनाओं का कोई निश्चित नियम नहीं है। एक स्थान से विभिन्न या विभिन्न स्थानों से एक स्वाद भी ग्रहण कर लिया जाता है।

स्वाद और विषयों की पारस्परिकता—वैज्ञानिकों ने यह सिद्ध किया है कि प्रत्येक इन्द्रिय के विषय का परस्पर गहरा सम्बन्ध है। स्वाद भी इसका अपवाद नहीं है। स्वाद में ध्वनि, ताप, रूप, रंग, गंध, स्पर्श आदि के संवेदन का महत्त्वपूर्ण योग होता है। आसपास यदि बहुत शोर हो रहा हो या रोने आदि के अप्रिय स्वर आ रहे हों तो स्वाद में कमी आ जाती है। भोजन की गंध का भी स्वाद पर प्रभाव पड़ता है, इसीलिए नाक बंद होने पर सेब और कच्चे आलू के स्वाद में बहुत कम अंतर मालूम होता है। शीत-उष्णता व स्पर्श का भी स्वाद से गहरा सबन्ध है। बासी रोटी में स्वाद इसीलिए नहीं आता कि उसमें ताप नहीं होता और उसका स्पर्श भी अच्छा नहीं लगता। भोजन के रंग का प्रभाव तो प्रायः प्रतिदिन ही देखने को मिलता है। शाक, सब्जी, मिठाइयों को सुरुचिपूर्ण बनाने लिए उनमें अनेक कृत्रिम रंगों का प्रयोग किया जाता है।

किस्म-किस्म के स्वाद—इस प्रकार कुछ काल पूर्व तक वैज्ञानिक रंग की अनुभूति को पदार्थ का एक स्वतंत्र गुण न मानकर उसके वर्ण, गंध व स्पर्श की अनुभूतियों का मिला-जुला रूप मानते थे। परन्तु नवीन वैज्ञानिक अन्वेषणों ने अपनी इस मान्यता में शोधन कर दिया है। अब वैज्ञानिकों ने रस या स्वाद को मौलिक रूप में स्वीकार किया है। इस विषय में उनकी मान्यता यह है कि मूल रूप से स्वाद चार प्रकार के होते हैं—नमकीन, मीठा, खट्टा और कड़वा। इन स्वादों के मिश्रण से हजारों किस्म के स्वाद बन जाते हैं।

तात्पर्य यह है कि विश्व में रस के असंख्य प्रकार हैं। उनका मूल जैनदर्शनों में पांच रसों को बताया है। वर्तमान विज्ञान के अनुसंधानों ने उनमें से चार रसों को मूल रसों के रूप में स्वीकार कर जैन-सिद्धांत को पुष्ट किया है। रहा एक रस सो विज्ञानजगत् में शीघ्र ही स्वीकार होने की संभावना है, कारण कि रसों के सम्बन्ध में अभी वैज्ञानिक खोज बहुत अपूर्ण है। जैसा कि अमेरिकी टेस्टिंग कंपनी के अनुसंधान समिति के अध्यक्ष डॉ. फास्टर का मत है कि "स्वाद के बारे में वैज्ञानिकों ने अनेक मत प्रस्तुत किए हैं और हमें जानकारी भी दी है, लेकिन यह जानकारी बिल्कुल अपूर्ण है। जितना हम सौ साल पहले जानते थे, आज भी उतना ही जानते हैं।"

आशय यह है कि जैनागमों के प्रणेताओं ने बिना भौतिक प्रयोगों के रसों के सम्बन्ध में जो ज्ञान दिया है, विज्ञान ने अपने प्रयोगों से उसे सत्य प्रमाणित कर यह सिद्ध कर दिया है कि निश्चय ही इन सिद्धांतों के प्रणेता अलौकिक ज्ञानी थे।

स्पर्श गुण के आठ प्रकार

पुद्गल के स्पर्श गुण का वर्णन करते हुए भगवान् महावीर ने उत्तराध्ययन सूत्र में फरमाया है—

फासओ परिणाया जे उ, अट्ठाहा ते पकित्तिया।
कक्खडा मउया चेव, गरुया लहुया तहा॥
सीया उण्हा य निद्धा य, तहा लुक्खा य आहिया।
इय फास परिणाया एए, पुग्गला समुदाहिया॥

—उत्तरा. ३६.२०-२१

अर्थात् पुद्गलों की स्पर्श परिणति आठ प्रकार की है—(१) कर्कश (२) कोमल (३) गुरु (भारी) (४) लघु (हलका) (५) शीत (६) उष्ण (७) स्निग्ध और (८) रूक्ष।

हलकापन और भारीपन—पुद्गल के उपर्युक्त आठ गुण साधा-

रणतः पदार्थों में स्पष्ट देखे जाते हैं। पहले हम हलकापन भारीपन को ही लें, हाईड्रोजन, आक्सीजन आदि कुछ गैसें हैं जो हवा से भी हल्की होती हैं। ठोस द्रव्यों में लीथियम धातु सभी ठोस पदार्थों से अधिक हल्की होती है। यह कार्क और खूंखेडी से भी हल्की होती है तथा पानी व तेल पर तैरती है। इसकी यह विशेषता है कि यह पानी पर शान्त रहकर नहीं तैरती है बल्कि विस्फोट कर प्रतिक्रिया करती रहती है। इसके हलकेपन का अनुमान इसी मे लगाया जा सकता है कि जहाँ एक घन फुट अलमुनियम का भार १६६ पौंड होता है वहाँ एक घनफुट लीथियम का भार केवल ३३ पौंड होता है। दूसरी ओर ऐसे भारी पदार्थ भी विद्यमान है जो पारा, सोना आदि से भी सैंकड़ों-हजारों गुना भारी होते हैं। क्वासर नक्षत्रों की भूमि के एक घन इंच का भार सैकड़ों टन आंका जाता है। विज्ञान के क्षेत्र में हलकापन व भारीपन को द्रव्यमान (Mass) या संहति कहा जाता है और सभी पदार्थों में भार या संहति होती ही है, यह स्वीकार किया गया है।

कोमलता और कठोरता—द्रव्यमान युक्त पदार्थों में कोमलता या कठोरता भी प्रत्यक्ष देखी जाती है। अतः जहाँ हलकापन-भारीपन है वहाँ कोमलता-कठोरता भी होती ही है। कोमलता-कठोरता का सम्बन्ध विज्ञान-जगत् में जिसे घर्षण बल कहा जाता है, उससे भी जोड़ा जा सकता है परन्तु यह विद्वानों के लिए खोज का विषय है।

शीतलता और उष्णता—शीत-उष्ण को विज्ञान की भाषा में तापमान कहा जाता है। तापमान भी पदार्थ मात्र में पाया जाता है। पदार्थों का जमना उबलना या ठोस, द्रव, गैस रूप धारण करना सब तापमान पर ही निर्भर है। तापमान शून्य से करोड़ों डिग्री ऊपर व सैकड़ों डिग्री नीचे तक पाया जाता है।

स्निग्धता-रूक्षता—स्निग्ध-रूक्ष गुण का वर्णन पहले बंध प्रकरण में परमाणु को लेकर किया गया है। परन्तु पुद्गल-स्कन्ध में

दूसरा रूप भी पाया जाता है। वह है गुरुत्वाकर्षण शक्ति या चुम्बकीय शक्ति। इसी शक्ति से अणु परस्पर मिलकर जुड़े रहते हैं। वैज्ञानिकों का कथन है कि ब्रह्माण्ड में प्रत्येक द्रव्य-कण दूसरे कणों को सदैव आकर्षित करता रहता है, यह सर्वव्यापी नियम है। इसे गुरुत्वाकर्षण कहते हैं। यह गुरुत्वाकर्षण बल द्रव्यमान के समानुपाती होता है। चुम्बक किसी भी अणु का स्वाभाविक गुण है। हम किसी चुम्बक में चुम्बकत्व उत्पन्न नहीं करते हैं केवल उसे प्रकट करते हैं। अणु तथा परमाणु में यह चुम्बकीय शक्ति उसके भीतर विद्युत् आवेशित कणों की गति के कारण होती है। उससे यह सिद्ध होता है कि स्निग्धता-रूक्षता (धनात्मक-ऋणात्मक विद्युत् शक्ति) सूक्ष्मतम परमाणु से लेकर स्थूलतम ठोस द्रव्य में सर्वत्र विद्यमान है।

चार स्पर्शी स्कंध और आठ स्पर्शी स्कंध

स्पर्श गुण के उपर्युक्त आठ प्रकार विज्ञान जगत् व व्यावहारिक जीवन में सर्वतः मान्य हैं। परन्तु जैनदर्शन स्पर्शों की अपेक्षा पुद्‌गल स्कंधों का वर्गीकरण दो प्रकार से करता है—(१) चार स्पर्शी स्कंध और (२) आठ स्पर्शी स्कंध। आठ स्पर्शी स्कंध में उपर्युक्त आठों स्पर्श ही पाये जाते हैं परन्तु चार स्पर्शी स्कंधों में स्निग्ध, रूक्ष, शीत, उष्ण ये चार स्पर्श ही पाये जाते हैं।

विज्ञान के आविष्कारों के पूर्व चार स्पर्शी स्कंध रचना को समझना अशक्य-सा ही था। परन्तु विज्ञान ने 'पदार्थ ही शक्ति का रूप धारण करता है' यह तथ्य प्रस्तुत कर दिया है और इस तथ्य से जैनदर्शन द्वारा प्रतिपादित 'चार स्पर्शी स्कंध' को सहज ही में समझा जा सकता है।

शक्ति द्रव्य का ही रूपान्तर है। अतः विद्युत् की लहरें चाहे वे रेडियो की हों या टेलीविजन की अथवा गुरुत्वाकर्षण शक्ति की हों या विद्युत् चुम्बकीय शक्ति की हों, सब लहरें शक्ति का ही रूप हैं, दूसरे शब्दों में ये सब पुद्‌गल-द्रव्य के ही रूप हैं। अतः भार (द्रव्य-

मान) की दृष्टि से ये लघु गुरु नहीं होती हैं और द्रव्यमान न होने से इनमें कोमलता-कठोरता भी नहीं होती है। अतः इन लहरों में लघुता (हलकापन), गुरुता (भारीपन), कोमलता, कठोरता ये चार गुण नहीं पाये जाते हैं। परन्तु ये शक्तियां या लहरें विद्युत् युक्त व गतिमान होती हैं। विद्युत् युक्त होने से स्निग्ध-रूक्ष (धनात्मक-ऋणात्मक आवेश वाली) एवं गतिमान होने से शीत-उष्ण (तापमान) इन चार प्रकार के स्पर्श वाली होती है।

जैनदर्शन की वैज्ञानिकता

वर्तमान युग में तो वैज्ञानिक उपलब्धियों ने दूर-ध्वनि प्रसारक (रेडियो), दूरदर्शन प्रसारण (टेलीविजन), दूर-विचार प्रेषण (टेलीपैथी) आदि ने पुद्गल स्कंध के सूक्ष्मरूप शक्ति या लहरों के अस्तित्व व उपयोग का ज्ञान प्रस्तुत कर दिया है परन्तु आज के अढाई हजार वर्ष पूर्व जब इस प्रकार के ज्ञान का कोई भी साधन उपलब्ध नहीं था उस समय जैनागमों में ऐसे चार स्पर्शी पुद्गल स्कंधों के अस्तित्व को मानना जिसमें हलकापन, भारीपन, कोमलता और कठोरता तो न हो परन्तु उनमें स्निग्धता, रूक्षता, शीतलता, उष्णता हो, उनके इन्द्रियातीत विलक्षण ज्ञान का ही द्योतक है।

तात्पर्य यह है कि जैनदर्शन में वर्णित पुद्गल के गुण वर्ण, गंध, रस और स्पर्श के मर्म को वर्तमान विज्ञान ने उजागर व पुष्ट किया है।

पुद्गल की विशेषताएं

गतिशीलता

जैन आगमों में परमाणु को कंपनशील एवं गतिशील कहा है। 'भगवती सूत्र' में इस विषय पर विशद प्रकाश डाला गया है। वहां कहा गया है—

'सिए एयति, सिय वेयति, जाव परिणमइ।'

अर्थात् परमाणु कभी कम्पन करता है, कभी विविध कंपन करता है यावत् परिणमन करता है। यावत् शब्द यहां इस बात का द्योतक है कि परमाणु में विविध कंपन की तरह और भी अनेक क्रियाएं होती हैं।

परमाणु की गति के विषय में इस प्रकार वर्णन है—

परमाणु पोग्गले णं भन्ते! लोगस्स पुरच्छिमिल्लाओ चरिमंताओ पच्चच्छिमिल्लं चरिमंतं एगसमएणं गच्छइ, पच्चच्छिमिल्लाओ चरिमंताओ पुरच्छिमिल्लं चरिमंतं एग समयेणं गच्छइ, दाहिणिल्लाओ चरिमंताओ उत्तरिल्लं जाव गच्छइ, उत्तरिल्लाओ दाहिणिल्लं जाव गच्छइ, उवरिल्लाओ चरिमंताओ हेठिल्लं चरिमंतं एगसमएणं जाव गच्छइ, हेठिल्लाओ चरिमंताओ उवरिल्लं चरिमंतं एग समयेणं गच्छइ। हन्ता गोयमा! परमाणु पोग्गले णं लोगस्स पुरच्छिमिल्ल. तं चेव जाव उवरिल्लं चरिमंतं गच्छइ। —भगवती सूत्र १६.८.७

अर्थात् गौतम गणधर द्वारा परमाणु की गति के विषय में पांच प्रश्न पूछने पर भगवान् फरमाते हैं कि हे गौतम! परमाणु अपनी उत्कृष्ट गति से एक समय में लोक के पूर्व चरमान्त से पश्चिम चरमान्त, उत्तर चरमान्त से दक्षिण चरमान्त तथा अधोचरमान्त से ऊर्ध्वचरमान्त तक पहुंच सकता है। दूसरे शब्दों में कहें तो परमाणु एक समय में सम्पूर्ण लोक या संसार के एक सिरे से दूसरे सिरे तक पहुंच सकता है। जैनदर्शन में 'समय' शब्द काल के अन्तिम, लघुतम अविभाज्य अंश के लिए प्रयुक्त होता है और हमारी आंखों के पलक के एक बार उठने या गिरने जितनी-सी देर में असंख्य समय व्यतीत हो जाते हैं। ऐसे एक समय में परमाणु पूरे चतुर्दश रज्ज्वात्मक लोक को आद्योपान्त पार कर लेता है। यह तो हुई परमाणु की तीव्रतम या अधिकतम गति, इसी प्रकार परमाणु की न्यूनतम गति के विषय में शास्त्रों में आया है कि अल्पतम गतिमान परमाणु एक समय में एक प्रदेश से अपने निकटवर्ती दूसरे प्रदेश में जा सकता है। आकाश

का एक प्रदेश उतना लघुतम है जितना एक परमाणु ।

परमाणु की एक समय में अधिकतम गति चतुर्दश रज्ज्वात्मक लोक प्रमाण और न्यूनतम गति एक आकाशप्रदेश प्रमाण कही गई है। अतः इससे स्वतः यह फलितार्थ निकलता है कि परमाणु इस बीच की सारी गतियां यथाप्रसंग करता रहता है। जैनदर्शन में वर्णित इस सिद्धांत की पुष्टि वर्तमान विज्ञान द्वारा प्राप्त की गई अणु-परमाणु की विभिन्न गतियों की जानकारी से होती है। यथा—

हीरे आदि ठोस द्रव्यों में अणुओं (Molecules) की गति प्रति घंटा ६६० मील है।

'शब्द की गति प्रति घण्टा ११०० मील है।'

'प्रत्येक इलेक्ट्रोन की अपनी कक्षा पर गति प्रति सेकिण्ड १३०० मील है।'

'प्रकाश की गति प्रति सैकिण्ड १८६२८४ मील है।'

वायव्य पदार्थों (Gases) में अणुओं का कम्पन इतना शीघ्र है कि वे एक सैकिण्ड में ६ अरब बार परस्पर टकरा जाते हैं।

अत्यंत सूक्ष्म काल मापक घड़ी 'न्युक्लियर' से पता चला है कि लोह ५७ के न्युक्लियस के प्रकम्पन से १० खरब लहरें (गामारेंज) निकलती हैं।

वैज्ञानिकों द्वारा किए गये टेलीपैथी (विचार दूर प्रेषण) के प्रयोगों से यह ज्ञात हुआ है कि मानसिक तरंगों (मनोवर्गणाओं) की गति सर्वाधिक तीव्र है, वे तत्क्षण विश्व के छोर को छू लेती हैं। विज्ञान का यह कथन जैनदर्शन में वर्णित परमाणु की तीव्रतम गति का समर्थन करता है। किन्तु विज्ञान को इस दिशा में कार्य करना शेष है।

अप्रतिघातित्व

पुद्गल-परमाणु की एक विशेषता उसका अप्रतिघाती होना भी है। वह मोटी से मोटी लोह-दीवार, बड़े से बड़े पर्वत, अगाध सागर व वज्र के भी इस पार से उस पार बिना किसी रुकावट या बाधा के सहज भाव से निकल जाता है। आधुनिक विज्ञान भी इस तथ्य को स्वीकार करता है। यथा—"अब न्यूट्रिनो (Newtrino) नामक ऐसे सूक्ष्म अणु की कल्पना की गई है जिसके लिए परमाणु ऐसा है जैसा पिन के सिर के लिए व्हाइट हाऊस का गुम्बद और परमाणु के लिए पिन का सिर ऐसा है जैसा हमारे लिए वह गुम्बद। यदि इसे (Newtrino) पृथ्वी के आरपार कराया जाय तो यह किसी अणु-परमाणु से टकराये बिना इस पार से उस पार निकल जायेगा।"[1]

परिणामी-नित्यत्व

जैनदर्शन प्रत्येक द्रव्य को, चाहे वह जीव हो या अजीव, उसे परिणामी नित्य मानता है। यह अस्तित्व की अपेक्षा द्रव्य को ध्रुव, शाश्वत व नित्य मानता है और पर्याय की अपेक्षा सतत परिणमन-शील मानता है। द्रव्य का यही परिणमन युक्त नित्यत्व स्वभाव 'परिणामी-नित्यत्व' सिद्धांत या 'षड्गुण हानि-वृद्धि' के नाम से प्रसिद्ध है। आधुनिक विज्ञान इस सिद्धांत का प्रतिपादन व समर्थन 'द्रव्य और शक्ति की सुरक्षा का नियम' रूप में करता है। विज्ञान यह मानता है कि पदार्थ की मौलिकता (Fundamental reality) कभी नष्ट नहीं होती, केवल रूपान्तरित (Modified) ही होती है। उदाहरणार्थ मोमबत्ती को ही लें। उसे जलाने पर कुछ कार्बन तो उसके नीचे मौलिक रूप में एकत्र हो जाता है और कुछ वाष्प (Gas) में रूपान्तरित हो हवा में चला जाता है। यदि कांच का भाजन उस पर रख दें तो वाष्प में रूपान्तरित कार्बन वापस प्राप्त हो जाता है। वैज्ञानिक हेकल (Hackel) का कथन है—

---

१ विज्ञान लोक, फरवरी १९६५, पृष्ठ ३३।

'Nowhere in nature do we find an example of the production or creation of new matter nor does a particle of existing matter passes entirely away.'

प्रकृति में ऐसा कोई भी दृष्टान्त नहीं मिलता जो किसी नवीन द्रव्य के रूप में उत्पन्न हुआ हो या विद्यमान द्रव्य के किसी अवयव का आत्यंतिक विनाश हो गया हो।

सघनता व सूक्ष्मता

पुद्गल परमाणुओं की एक विशेषता है उनका समासीकरण और व्यायतीकरण अर्थात् संकोच-विस्तार गुण। इसी गुण के कारण कभी थोड़े से परमाणु एक विस्तृत आकाश खण्ड को घेर लेते हैं और कभी-कभी वे ही परमाणु घनीभूत होकर बहुत छोटे से आकाश देश या प्रदेश में समा जाते हैं। इसी विचित्र शक्ति के कारण असंख्यात प्रदेश वाले लोक में अनन्तानन्त पुद्गल परमाणु स्थान पा जाते हैं। एक परमाणु आकाश में जितना स्थान घेरता है वह एक आकाश प्रदेश कहलाता है, अतः यह प्रश्न उपस्थित होना स्वाभाविक है कि असंख्यात प्रदेश वाले लोक में अनंतानंत पुद्गल-परमाणु स्थान कैसे पा सकते है। आचार्य पूज्यपाद ने इस विषय में ऐसी ही आशंका उठाकर उसका समाधान इस प्रकार किया है—

'स्यादेतत्संख्यातप्रदेशो लोकः, अनन्तप्रदेशस्यानन्तान्तप्रदेशस्य च स्कन्धस्याधिकरणमिति विरोधस्ततो नानन्त्यमिति। नैष दोषः। सूक्ष्मपरिणामावगाह्यशक्तियोगात् परमाण्वादयो हि सूक्ष्म मानेन परिणता एवं कस्मिन्नप्याकाशप्रदेशेऽनन्तानन्ता व्यवतिष्ठेन्ते, अवगाहनशक्तिश्चैषामव्याहताऽस्ति, तस्मादकस्मिन्नपि प्रदेशेऽनन्तानन्तावस्थानं न विरुध्यते।'—सर्वार्थसिद्धि, ५.१६

उत्तर में आचार्य कहते हैं कि इसमें कोई आपत्ति नहीं है। सूक्ष्म परिणमन और अवगाहन शक्ति के कारण परमाणु और स्कन्ध सभी सूक्ष्म रूप परिणत हो जाते हैं, इस प्रकार एक ही आकाश प्रदेश में

अनन्तानन्त परमाणु व स्कन्ध निर्विरोध रह सकते हैं।

वैज्ञानिक समर्थन—विज्ञान जगत् में परमाणुओं की सूक्ष्म परिणति व निविड़ता को स्वीकार कर लिया गया है। एक घन इन्च वाले काठ, चांदी व सोने के टुकड़े के भार में कितना अन्तर है, यह सर्व विदित है। इसका कारण परमाणुओं की निविड़ता ही है। जितने आकाश में काठ के थोड़े से परमाणु निवास करते हैं उतने ही आकाश में चांदी के कितने गुने अधिक और सोने के परमाणु उससे भी अधिक संख्या में रह सकते हैं। आकाश में ऐसे अनेक नक्षत्र हैं जिनमें स्थित पदार्थ प्लेटिनम् से भी हजारों गुने अधिक सघन हैं। एक सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक का कथन है—In some of these bodies

(small stars) the matter has become so densely packed that a cubic inch weighs a tone. The smallest known star discovered recently is so dense that a cubic inch of its material weighs 620 tones.—Ruby E Bois F. R. A.

अर्थात् 'इन छोटे नक्षत्रों व तारों में से कुछ एक में पदार्थ इतनी सघनता से भरा है कि उसके एक घन इन्च टुकड़े में २७ मन वजन है। सबसे लघु तारा जो अभी ही खोजा गया है उसके एक घन इंच में १६७४० मन वजन होता है।' हमारी इस आकाश-गंगा का ज्येष्ठा तारा ही इतना भारी है कि जिसके अंगूठी में जड़े एक नग के बराबर कण में ही आठ मन वजन है। वटुक तारे में प्रति घन इंच ५ टन वजन है, वहां गामा व अन्य रश्मियां भारहीन हैं लेकिन वे एक फुट मोटी सीसे की चद्दर को भी छेद सकती हैं।

वैज्ञानिक का कथन है कि यदि हमारी पृथ्वी के परमाणु निविड़ता धारण करलें तो वे बच्चों के खेलने में काम आने वाली छोटी गेन्द के आकार की बन जाय।

पुद्गल-परमाणुओं की सूक्ष्म परिणामावगाहन शक्ति के विज्ञान जगत् में अनेक उदाहरण मिलते हैं। उनमें से एक यहां दिया जाता है—

"एक गैलन आयतन वाले एक डिब्बे में एक गैलन अमोनिया गैस भरी जा सकती है और यदि उस डिब्बे में पानी भर दिया जाय तो पानी के बाद भी ७०० गैलन अमोनिया गैस उसमें भरी जा सकती है ।"[1]

पदार्थ के इस संकोच-विस्तार धर्म को सुन्दर ढंग से समझाते हुए जैनाचार्य दीपक का उदाहरण देते हैं । यथा—एक कमरे में एक दीपक का प्रकाश सर्वव्यापक होता है, लेकिन उसमें सैकड़ों अन्य दीपकों का प्रकाश भी समा सकता है अथवा एक दीपक का प्रकाश, जो किसी बड़े कमरे में फैला रहता है, किसी छोटे बर्तन से ढंके जाने पर उसी में समा जाता है ।[2]

जैनाचार्यों ने पुद्गल के संकोच-विस्तार गुण का उपर्युक्त उदाहरण बड़ा ही सुन्दर व बुद्धिग्राह्य दिया है । फिर भी एक ही आकाश प्रदेश में अनन्तानन्त पुद्गल परमाणु समा जाते हैं । इसे और भी अधिक स्पष्ट करने के लिए विकसित विज्ञान का सहारा अधिक उपयोगी होगा । यथा—रेडियो, वायरलैस, टेलीपैथी आदि के आविष्कारों से यह सिद्ध हो गया है कि विद्युत् व मानसिक तरंगों के अनन्तानन्त पटल सम्पूर्ण संसार में व्याप्त हैं, कोई भी स्थान इनसे रिक्त नहीं है, तब ही तो विश्व के किसी भी कोने में स्थित रेडियो यन्त्र व मानव मस्तिष्क से उनका ग्रहण होता है । सम्पूर्ण संसार में व्याप्त होने से वे अनन्तान्त तरंगे आकाश के प्रत्येक प्रदेश में ही व्याप्त हैं । तथा यह विज्ञान सम्मत तथ्य है कि तरंगें या शक्ति पुद्गल (Matter) का ही एक रूप है । अतः प्रत्येक आकाश प्रदेश में अनन्त पुद्गल परमाणु समाहित हैं, यह स्वतः सिद्ध हो जाता है ।

---

१ विज्ञान लोक, फरवरी १९६५, पृ. ३४

२ 'प्रदेशसंहारविसर्गाभ्यां प्रदीपवत् ।' तत्वार्थसूत्र अ. ५ सू. १६

अनन्तानन्त परमाणु व स्कन्ध निर्विरोध रह सकते हैं।

वैज्ञानिक समर्थन—विज्ञान जगत् में परमाणुओं की सूक्ष्म परिणति व निविड़ता को स्वीकार कर लिया गया है। एक घन इन्च वाले काठ, चांदी व सोने के टुकड़े के भार में कितना अन्तर है, यह सर्व विदित है। इसका कारण परमाणुओं की निविड़ता ही है। जितने आकाश में काठ के थोड़े से परमाणु निवास करते हैं उतने ही आकाश में चांदी के कितने गुने अधिक और सोने के परमाणु उससे भी अधिक संख्या में रह सकते हैं। आकाश में ऐसे अनेक नक्षत्र हैं जिनमें स्थित पदार्थ प्लेटिनम् से भी हजारों गुने अधिक सघन हैं। एक सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक का कथन है—In some of these bodies

(small stars) the matter has become so densely packed that a cubic inch weighs a tone. The smallest known star discovered recently is so dense that a cubic inch of its material weighs 620 tones.—Ruby E Bois F. R. A.

अर्थात् 'इन छोटे नक्षत्रों व तारों में से कुछ एक में पदार्थ इतनी सघनता से भरा है कि उसके एक घन इन्च टुकड़े में २७ मन वजन है। सबसे लघु तारा जो अभी ही खोजा गया है उसके एक घन इंच में १६७४० मन वजन होता है।' हमारी इस आकाश-गंगा का ज्येष्ठा तारा ही इतना भारी है कि जिसके अंगूठी में जड़े एक नग के बराबर कण में ही आठ मन वजन है। वटुक तारे में प्रति घन इंच ५ टन वजन है, वहां गामा व अन्य रश्मियां भारहीन हैं लेकिन वे एक फुट मोटी सीसे की चद्दर को भी छेद सकती हैं।

वैज्ञानिक का कथन है कि यदि हमारी पृथ्वी के परमाणु निविड़ता धारण करलें तो वे बच्चों के खेलने में काम आने वाली छोटी गेन्द के आकार की बन जाय।

पुद्गल-परमाणुओं की सूक्ष्म परिणामावगाहन शक्ति के विज्ञान जगत् में अनेक उदाहरण मिलते हैं। उनमें से एक यहां दिया जाता है—

"एक गैलन आयतन वाले एक डिब्बे में एक गैलन अमोनिया गैस भरी जा सकती है और यदि उस डिब्बे में पानी भर दिया जाय तो पानी के बाद भी ७०० गैलन अमोनिया गैस उसमें भरी जा सकती है।"[1]

पदार्थ के इस संकोच-विस्तार धर्म को सुन्दर ढंग से समझाते हुए जैनाचार्य दीपक का उदाहरण देते हैं। यथा—एक कमरे में एक दीपक का प्रकाश सर्वव्यापक होता है, लेकिन उसमें सैकड़ों अन्य दीपकों का प्रकाश भी समा सकता है अथवा एक दीपक का प्रकाश, जो किसी बड़े कमरे में फैला रहता है, किसी छोटे बर्तन से ढंके जाने पर उसी में समा जाता है।[2]

जैनाचार्यों ने पुद्गल के संकोच-विस्तार गुण का उपर्युक्त उदाहरण बड़ा ही सुन्दर व बुद्धिग्राह्य दिया है। फिर भी एक ही आकाश प्रदेश में अनन्तानन्त पुद्गल परमाणु समा जाते हैं। इसे और भी अधिक स्पष्ट करने के लिए विकसित विज्ञान का सहारा अधिक उपयोगी होगा। यथा—रेडियो, वायरलैस, टेलीपैथी आदि के आविष्कारों से यह सिद्ध हो गया है कि विद्युत् व मानसिक तरंगों के अनन्तानन्त पटल सम्पूर्ण संसार में व्याप्त हैं, कोई भी स्थान इनसे रिक्त नहीं है, तब ही तो विश्व के किसी भी कोने में स्थित रेडियो यन्त्र व मानव मस्तिष्क से उनका ग्रहण होता है। सम्पूर्ण संसार में व्याप्त होने से वे अनन्तान्त तरंगे आकाश के प्रत्येक प्रदेश में ही व्याप्त हैं। तथा यह विज्ञान सम्मत तथ्य है कि तरंगें या शक्ति पुद्गल (Matter) का ही एक रूप है। अतः प्रत्येक आकाश प्रदेश में अनन्त पुद्गल परमाणु समाहित हैं, यह स्वतः सिद्ध हो जाता है।

---

१ विज्ञान लोक, फरवरी १९६५, पृ. ३४

२ 'प्रदेशसंहारविसर्गाभ्यां प्रदीपवत्।' तत्वार्थसूत्र अ. ५ सू. १६

यह तो पुद्गल-परमाणु की अवगाहन शक्ति की निविड़ता या सघनता के विलक्षण स्वभाव की विवेचना है। पुद्गल-स्कन्धों की सूक्ष्मता भी इससे कम विलक्षण नहीं है। कम से कम दो परमाणु से लेकर अनन्त परमाणु तक के एकीभूत द्रव्य स्कन्ध ही कहलाते हैं। वस्त्र, पात्र, जल, स्थल, दवा, हवा आदि विश्व के समस्त पदार्थ जो चक्षु आदि इन्द्रियों से ग्राह्य हैं, रूपी हैं, सब स्कन्ध ही हैं। और ये सब अनंत परमाणुओं के समवाय रूप हैं। एक परमाणु को कभी भी दूसरे परमाणु से अलग नहीं किया जा सकता है, अतः भेदन या तोड़ने की क्रिया स्कन्ध में ही सम्भव है। किसी पदार्थ के स्कन्ध को हम तोड़ते जायं तो उसका छोटे से छोटा टुकड़ा भी स्कन्ध ही होगा। इस प्रकार एक स्कन्ध विभाजित किये जाने पर असंख्य स्कन्ध बन जाते हैं। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि एक स्कन्ध असंख्य स्कन्धों का समवाय है। आधुनिक विज्ञान भी जैनदर्शन में कथित स्कन्धों की इस सूक्ष्मता का समर्थन करता है। □

पुद्गल की विशिष्ट पर्यायें

पुद्गल का लक्षण

द्रव्य के स्वरूप को समीचीन रूप में समझने के लिए उसके लक्षण का ज्ञान अपेक्षित है। पुद्गल द्रव्य का लक्षण जैनागम में इस प्रकार कहा है—

> सद्दंधयार उज्जोओ, पभा छायाऽऽतवे इ य।
> वण्णरसगंधफासा, पुग्गलाणं तु लक्खणं। उत्तरा. २८.१२

अर्थात् शब्द, अंधकार, उद्योत, प्रभा, छाया, आतप, वर्ण, रस, गंध और स्पर्श ये सब पुद्गल के लक्षण हैं।

लक्षण में गुण और पर्याय दोनों आ जाते हैं। उपर्युक्त पुद्गल के लक्षण में प्रथम के छह रूप—शब्द, अन्धकार, उद्योत, प्रभा, छाया और आतप पुद्गल की पर्याय के हैं और अन्त के चार—वर्ण, रस, गंध और स्पर्श—ये पुद्गल के गुण हैं। इन चारों गुणों का वर्णन 'पुद्-गल द्रव्य' अध्याय में आ चुका है। अतः अब पुद्गल की विशिष्ट पर्यायों पर ही विचार किया जा रहा है।

पर्याय : द्रव्य का परिणमन

द्रव्य का परिणमन या रूपान्तर ही पर्याय कहा जाता है। अतः यह स्मरणीय है कि शब्द, अन्धकार, उद्योत, प्रभा, छाया और आतप में पुद्गल द्रव्य ही परिणत होता है अर्थात् ये पुद्गल द्रव्य के ही रूपान्तर हैं।

जैनदर्शन की वैज्ञानिकता

विज्ञान के विकास के पूर्व जैन दर्शन के अतिरिक्त विश्व में अन्य कोई दर्शन ऐसा नहीं था जो शब्द, अन्धकार आदि इन सबको पुद्गल

का रूप मानता हो। वे दर्शन इन्हें या तो स्वतंत्र पदार्थ मानते थे या पुद्गल के इतर किसी अन्य पदार्थ का गुण मानते रहे हैं अथवा पदार्थ ही नहीं मानते रहे हैं। एक मात्र जैन दर्शन ही ऐसा है जो इन्हें पुद्गल रूप मानता आ रहा है और आज विज्ञान के बढ़ते चरणों ने जैन दर्शन की उपर्युक्त मान्यता को सत्य प्रमाणित कर दिया है। उदाहरणार्थ शब्द सम्बन्धी विचार को ही लें। पंचास्तिकायसार में कहा है—

आदेसमेत्तमुत्तो धादुचदुक्कस्स कारणं जो दु।
सो णेओ परमाणू परिणामगुणो सयमसद्दो ॥
सद्दो खंधप्पभवो खंधो परमाणुसंगसंघादो।
पुट्ठेसु तेसु जायदि सद्दो उप्पादिगो णियदो ॥

—पंचास्तिकायसार ७८-७९

अर्थात् परमाणु स्वयं अशब्द है। शब्द की उत्पत्ति तो स्कन्धों के संघर्षण से होती है, इसलिए शब्द स्कन्ध से उत्पन्न हैं।

शब्द सम्बन्धी जिन सिद्धान्तों की स्थापना जैनाचार्यों ने शताब्दियों पूर्व की थी, आज विज्ञान-जगत् में पुनः उस मान्यता की पुष्टि हो गई है। शब्द की उत्पत्ति को लें। जैन दर्शन की दृष्टि में यह स्कन्ध प्रभव होने से पुद्गल की पर्याय है, अतः अरूपी या अभौतिक पदार्थ नहीं है। जबकि अन्य दार्शनिकों ने इसे आकाश का गुण माना है। आज के वैज्ञानिक भी जैन दर्शन में कथित शब्द की उक्त मान्यता का समर्थन करते हैं। इस विषय में प्रो. ए. चक्रवर्ती का मत द्रष्टव्य है—The Jain account of sound is a physical concept. All other Indian systems spoke of sound as a quality of space. But it explains in relation with material particles as a result of concision of atmospheric molecules. To prove this the *Jain thinkers employed arguments which are now generally* found in text books of physics.

यहां यह दिखलाया गया है कि अन्य सब भारतीय विचारधाराएं शब्द को आकाश का गुण मानती रही हैं, जबकि जैनदर्शन उसे पुद्गल मानता है। जैनदर्शन की इस विलक्षण मान्यता को विज्ञान ने प्रमाणित कर दिया है।

शब्द पर्याय

जैनदर्शन में शब्द का प्रयोग 'ध्वनि' के लिए हुआ है। ध्वनि का वर्तमान में जिस प्रकार का उपयोग हो रहा है उससे वह पौद्गलिक है यह स्पष्ट सिद्ध हो रहा है। आज ध्वनि को मापने के यंत्र बन गये है तथा ध्वनि का उपयोग मानव की अनेक प्रकार की सेवाओं में किया जा रहा है। ध्वनि-मापन यंत्र से ज्ञात हुआ है कि मनुष्य के कान केवल स्पंदन-क्षेत्र की ध्वनि को ही सुन सकते हैं। इन स्पन्दन लहरों से ऊँची तथा नीची ध्वनि को कान सुनने में असमर्थ हैं। ऐसी ध्वनि को श्रवणोत्तर ध्वनि कहते हैं। मनुष्य प्रति सैकण्ड २०००० से अधिक तथा २००० से कम चक्रवाली ध्वनि को नहीं सुन सकता है। केवल प्रति सैकण्ड दो हजार से अधिक और वीस हजार से कम स्पंदन वाली ध्वनि को ही सुन सकता है। श्रवणोत्तर ध्वनि के क्षेत्र ऊँची स्पंदन गति (पन्द्रह हजार प्रति सेकिंड से कई लाख प्रति सेकिंड) को भी दो भागों में बांटा गया है। पन्द्रह के निकट गति वाली लघु श्रवणोत्तर (लो अल्ट्रा सौनिक) तथा पचास हजार से अधिक गति वाली उच्च श्रवणोत्तर ध्वनि (हाई अल्ट्रा सोनिक) कही जाती है।

ध्वनि के विविध उपयोग

उच्च श्रवणोत्तर ध्वनि का उपयोग कई क्षेत्रों में किया जाने लगा है। इसके द्वारा आज घड़ियां, बारीक कल पुर्जे बिना खोले ही साफ किये जाते हैं। धातु के बने पुर्जों के दांते काटने तथा जोड़ने (वेल्डिग) के लिए भी इसका उपयोग होता है। धातु को जहां से जोड़ना होता है वहां के मैल को यह ध्वनि दूर कर देती है और

केवल स्पंदन द्वारा धातु के कणों को एक दूसरे में फंसा कर उन्हें जोड़ देती है। इस उच्च ध्वनि का अस्पतालों में विशेष उपयोग किया जाता है। हीरों के काटने के लिए भी इसका उपयोग होने लगा है।

चिकित्सा में उपयोग—उच्च श्रवणोत्तर ध्वनि से ऐसे कठिन रोगों की चिकित्सा भी सहज सम्भव हो गयी है जिनके लिए पहले शल्य-क्रिया में बहुत चीर-फाड़ करनी पड़ती थी। अब पथरी के रोगी को एक टेबल पर सुला दिया जाता है फिर पथरी की ओर एक यंत्र द्वारा ध्वनि फेंकी जाती है। ध्वनि मांस में हेर-फेर या हलचल किये बिना ठोस पथरी से टकराती है जिससे पथरी टूट-टूट कर चूर्ण हो जाती है। चूर्ण पेशाब में बहकर निकल जाता है और पथरी का इलाज बिना आपरेशन के हो जाता है। पथरी के इस इलाज में रोगी को न तो किसी प्रकार का कष्ट होता है और न कोई हानि ही पहुँचती है और रोगी का बिना बेहोश किये कुछ ही मिनटों में इलाज हो जाता है।

श्रवणोत्तर ध्वनि से मोतिया-बिन्द का भी इलाज बिना आपरेशन के होने लगा है। इस इलाज में धातु की बनी एक बारीक खोखली नली की नोंक से ध्वनि आंख में लेंस (जिसे मोतिया बिन्द कहते हैं जो ठोस या अर्द्ध ठोस होता है) पर फेंकी जाती है, जिससे लेंस का ठोस पदार्थ तरल हो जाता है और तरल पदार्थ को नली के खोखले मार्ग से बाहर खींच लिया जाता है।

कान के अनेक रोगों में भी आजकल अति ध्वनि का उपयोग किया जाने लगा है तथा इससे अन्य कई रोगों का भी बिना कष्ट पहुंचाये सरलता-सहजता से इलाज होने लगा है।

जब किसी मानवीय अंग का श्रवणोत्तर ध्वनि से उपचार करना होता है तो नंगे अंग को जल के भीतर रखा जाता है। फिर चमड़ी

से आधा इंच दूर की सीमा में श्रवणोत्तर ध्वनि प्रेपक यंत्र के ध्वनि-पट्ट को आगे-पीछे किया जाता है। उसमें से निकली हुई अति ध्वनि की तरंग मांस, चमड़ी तथा रक्त को पार करती हुई शरीर में दो इंच तक प्रवेश कर जाती है। इस प्रकार विना किसी प्रकार की तकलीफ पहुंचाये यह रोग को दूर कर देती है।

छाया चित्रांकन में उपयोग— ध्वनि कैमरा में ध्वनि का चित्रांकन किया जाता है। इसका उपयोग अपराधियों को पकड़ने के लिए किया जाता है। अंगुलियों की छाप की तरह ध्वनि-छाप भी प्रत्येक व्यक्ति की भिन्न एवं विशिष्ट होती है और अब यह भी मान लिया गया है कि वह अपरिवर्तनीय भी होती है। अतः जिस प्रकार अंगुलियों की छाप का अपराधियों के पकड़ने में उपयोग होता है उसी प्रकार ध्वनि छाप का उपयोग भी अपराधियों के पकड़ने में किया जा सकता है।

ध्वनि-चिह्न वस्तुत. वाणी के चिह्न हैं जिन्हें कागजों पर अंकित किया जा सकता है। ध्वनि-कैमरे द्वारा जिसे 'साउण्ड स्पेक्ट्रो ग्राफ' कहा जाता है प्रत्येक ध्वनि का विश्लेपण किया जा सकता है व उसकी आवृत्ति व विस्तार की विशिष्टता का छाया-चित्रांकन भी किया जा सकता है। इस ध्वनि-चित्र की विशिष्टताएं लिपिबद्ध करके रेकार्ड में रखी जा सकती हैं।

कपड़े धोने में उपयोग--जिन कपड़ों को धोना होता है पहले उन्हें जल में डाल दिया जाता है फिर उस जल में श्रवणोत्तर ध्वनि प्रवेश कराई जाती है जिससे उसमें बुदबुदे पैदा होते हैं जो मैल को उखाड़ देते हैं और जल में रासायनिक परिवर्तन द्वारा हाईड्रोजन पर ऑक्साइड (एक दूसरा ही घटक) पैदा हो जाता है जो उसके मैले रंग को साफ कर देता है।

इलैक्ट्रोनिक संगीत—इलैक्ट्रोनिक संगीत यंत्र ने संगीत के क्षेत्र में चमत्कारी उपलब्धियां प्रस्तुत की हैं। इसमें एक छानक यंत्र होता है

जो ध्वनि की अनावश्यक तीव्रता, उतार-चढाव आदि को छान कर अलग कर देता है। इलैक्ट्रोनिक संगीत यंत्र में संश्लेपक (सिथेसाइजर) का भी प्रयोग होता है। इसके द्वारा प्राकृतिक ध्वनियों को कृत्रिम रूप से तैयार किया जाता है। संगीतज्ञ जिस लय को अपने स्वर में व्यक्त करने में असमर्थ होता है उसे इलैक्ट्रोनिक यंत्र सुगमता से प्रस्तुत कर देता है। मनुष्य द्वारा मस्तिष्क में किसी प्रकार की लय की कम्पना आते ही वह लय इलैक्ट्रोनिक यंत्र में लगे रिकार्डर में अंकित हो जाती है। जिन स्वरों की संगीतज्ञ को आवश्यकता होती है उन्हें यह यंत्र ग्रहण कर लेता है तथा जिनकी आवश्यकता नहीं होती, उन्हें छोड़ देता है। इन संगीत यंत्रों से स्वर, ताल, लय तथा तरंग क्षेत्र में आश्चर्यजनक तथा विचित्र बातें सामने आने लगी है।

तात्पर्य यह है कि ध्वनि हीरा जैसी कठोरतम वस्तु को और पत्थर जैसी पथरी को भी काटने में समर्थ है। यह काटने की क्रिया बिना पौद्गलिक पदार्थ के कदापि सम्भव नहीं है। ध्वनि-कैमरे से ध्वनि का चित्रांकन किया जाता है। चित्र छाप लेना उसी का सम्भव है जो अस्तित्वमान पौद्गलिक पदार्थ हो। इलैक्ट्रोनिक संगीत यंत्र में ध्वनियों को छाना जाता है। छानने की क्रिया उसी में सम्भव है जो पौद्गलिक पदार्थ है। अतः शब्द या ध्वनि पुद्गल की ही पर्याय है अर्थात् एक अवस्था विशेष है। यह विलक्षण मान्यता एक मात्र जैनदर्शन में थी और इसे आज विज्ञान ने प्रत्यक्ष प्रमाणित कर दिया है।

तीन प्रकार के शब्द—जैनदर्शन में शब्द के तीन प्रकार कहे गये हैं—(१) जीव शब्द (२) अजीव शब्द और (३) मिश्र शब्द।

(१) जीव शब्द

किसी भी प्राणी के मुंह से निकली हुई आवाज को जीव शब्द कहा जाता है। मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट, पतंग आदि के मुंह से निकली हुई आवाज इसी कोटि में आती है। यह आवाज प्रत्येक

प्राणी की अलग-अलग होती है। अतः अनेक प्रकार की होती है। बहुत से मनुष्य अपने मुंह से ही घुंघरु, ताशे, शहनाई आदि वाद्यों की ध्वनि गुंजारित कर देते हैं। यद्यपि इन बाजों से निकलने वाली आवाज अजीव शब्द की श्रेणी में आती है परन्तु मनुष्य के मुंह से निकली हुई बाजों की आवाज को जीव शब्द में ही गिना जाता है।

मनुष्य की प्रतिध्वनि भी जीव शब्द ही है। ध्वनि को पुनः फेंकने वाला इटली के सुसेरा नामक स्थान में बड़ा ही अनोखा मकान है। इस मकान में यदि दिन को कोई बोले तो उसकी ग्यारह बार प्रतिध्वनि सुनाई पड़ती है और सूर्यास्त के बाद कोई बोले तो बारह बार प्रतिध्वनि सुनाई पड़ती है।

(२) अजीव शब्द

जो ध्वनि चेतनाहीन पदार्थों के कंपन से निकलती है उसे अजीव शब्द कहते हैं। मानव-निर्मित वाद्य—हारमोनियम, ढोलक, सितार आदि की आवाज इसी कोटि में आती है।

मानव-निर्मित वाद्ययंत्रों के अतिरिक्त प्राकृतिक रूप से भी अजीब-अजीब अजीव-ध्वनियां सुनाई देती हैं। उसमें कुछ का वर्णन यहां किया जाता है।

रेत का गीत—रेगिस्तान में बालू के टीलों से बड़ी अद्भुत ध्वनियां सुनाई पड़ती हैं। इस सम्बन्ध में रेगिस्तान में यात्रा करने वाले यात्रियों के वर्णन बड़े ही कुतूहलजनक हैं। बर्ट्रम टामस व जान फिलबाय लिखते हैं कि वे और उनका दल अरब के मरुस्थल में ऊंचे-ऊंचे बालू के टीलों से होकर जा रहा था। तभी उन्हें संगीत जैसा एक पंचम स्वर वाला राग सुनाई पड़ा।

कर्नल लेंसीफोर्थ ने सीवा के दक्षिण के विशालकाय बालू के टीलों का वर्णन करते हुए लिखा है—"सारे दिन पछुआ वायु बहने के बाद हवा से रेत संचित होकर चाकू की धार जैसे शिखर बन जाते

हैं और जब यह रेत खिसकने लगती है तब उसके कणों की रगड़ से ऐसी ध्वनि होने लगती है जैसे दूर कहीं पर बिजली कड़क रही हो।"

आरेल स्टाइन का लिखना है कि गोबी के मरुस्थल में 'टकला माकान' अंचल के पश्चिम की ओर 'अदांग पादशा' नामक क्षेत्र है। इस पूरे ही क्षेत्र में ध्वनिमय बालू फैली हुई है, जिससे विचित्र ध्वनियां निकलती हैं।

इजराइल के समीप सिनाई अंचल की बालुका भी ध्वनिमय है। यहां के सिनाई पर्वत का नाम ही पड़ गया है 'बेल माउटेंन' अर्थात् घंटा पर्वत। इसके विषय में लेफ्टिनेंट न्यूबोल्ड लिखते हैं कि पहले मंद और अस्पष्ट ध्वनि सुनाई पड़ती है। फिर वह दूर से सुनाई देने वाली गंभीर सुरीली आवाज-सी लगती है। इसके बाद धीरे-धीरे वही आवाज गिरजाघर में घनघनाते घंटे की-सी सुनाई देने लगती है।

लार्ड कर्जन काबुल के पास के एक रेतीले क्षेत्र का वर्णन करते हुए लिखते हैं कि यहाँ की रेत से बड़ी भयानक आवाज निकलती है। लगता है कि कोई घुड़सवार दल नगाड़ा बजाता हुआ तेजी से चला जा रहा है।

हवाई द्वीप में भी ऐसे रेतीले टीले हैं जिनमें से कुत्ते के रोने जैसी आवाज निकलती है। हेब्राइड्स द्वीप-समूह के 'एग' द्वीप की रेत में से तेज सीटी जैसी आवाज निकलती है। ईरान के मरुस्थल में वीणा जैसी सुरीली आवाज सुनाई देती है।

लेखक ने स्वयं घनोप ग्राम के निकट खारी नदी में बालू के टीले में अनेक बार सुरीली स्वरमय ध्वनियां सुनी है।

इसी प्रकार पुराने खंडहरों, वृक्षों में भी सीटी बजने जैसी विचित्र प्रकार की ध्वनियां सुनाई पड़ती हैं, जो यहां भूत-प्रेत होने का भ्रम

पैदा कर देती है। परन्तु वस्तुतः ये वायु चलने से उत्पन्न हुई ध्वनियां ही होती हैं।

आजकल इलैक्ट्रोनिक संगीत यंत्रों से भी आश्चर्यजनक धुनें (ध्वनियां) निकाली जाती हैं। मैसूर के अजायबघर में ऐसे वाद्ययंत्र हैं जिनको चलाने से नई-नई ध्वनियां निकलती हैं।

(३) मिश्र शब्द

जीव शब्द और अजीव शब्द, इन दोनों से मिली हुई ध्वनि को मिश्र शब्द कहा जाता है। जैसे वाद्ययंत्र के साथ व्यक्ति के गाने की ध्वनि।

अभिप्राय यह है कि शब्द के तीनों प्रकार—जीव शब्द, अजीव शब्द और मिश्र शब्द असंख्य प्रकार के हैं।

जैनदर्शन में शब्द या भाषा के विषय में अनेक विलक्षण व महत्त्वपूर्ण सिद्धांत प्रतिपादित किये हैं। उनमें से कुछ का दिग्दर्शन यहां कराया जाता है—

भाषा-पुद्गल

जैनागमों में भाषा के पुद्गल दो प्रकार के कहे गये हैं—(१) चार स्पर्शी और (२) आठ स्पर्शी। यह भी बताया गया है कि आठ स्पर्शी पुद्गल वाली भाषा ही कानों से सुनी जाती है। चार स्पर्शी पुद्गल वाली भाषा कानों से नहीं सुनी जा सकती है। ऐसा लगता है कि रेडियो स्टेशनों से प्रसारित विद्युत लहरों के रूप में विद्यमान जो भाषा (ध्वनि) है, वह चार स्पर्शी है। इसी कारण अभी हम जहां बैठे हैं वहां पर रेडियो स्टेशनों से निकली हुई भाषा की सैकड़ों विद्युत् लहरें विद्यमान है, फिर भी हमें नहीं सुनाई देती हैं। वे सुनाई तब ही पड़ती हैं जब हमारा रेडियो यंत्र उन्हें ग्रहण कर उन्हें अष्टस्पर्शी (स्थूल) बना देता है।

शब्द का वर्गीकरण

शब्दों के वर्गीकरण को लें। जैनाचार्यों ने शब्द को भाषात्मक और अभाषात्मक इन दो वर्गों में रखा है। आज के वैज्ञानिकों ने भी इसी प्रकार से शब्द के दो वर्ग किये हैं, जिन्हें संगीत ध्वनि (Musical sounds) और कोलाहल (Noise sounds) नाम दिये हैं।

शब्द की गति

शब्द की गति के विषय में जैनाचार्यों का कथन कौतूहलजनक-सा है, यथा—जीवेणं भंते ! जाइं दव्वाइं भासत्तइं गहियाइं निस्सरंति ताइं किं भिण्णाइं णिसरंति अभिण्णाइं णिसरंति ? गोयमा ! भिण्णाइ वि णिस्सरंति, अभिण्णाइंवि णिस्सरंति। तत्थ णं जाइं दव्वाइं भिण्णाइं णिसरंति, ताइं अणंतगुण हरिवुड्ढीए परिवुड्ढमाणाइं लोयंतफुसंति। जाइं अभिण्णाइं णिस्सरंति ताइं असंखेज्जाओ ओगाणहण वग्गणओगंता भेदभावज्जंति संखेज्जाइं जोयणाइंगंता विद्धंसमागच्छति। —पन्नवणा पद ११ सू. ४१

हे गौतम ! जो भाषा भिन्नत्व से निःसृत या प्रसारित होती है वह अनंतगुनी वृद्धि को प्राप्त होती हुई लोक के अंतिम भाग को स्पर्श करती है अर्थात् व्याप्त होकर संसार के पार तक पहुंच जाती है और जो भाषा अभिन्न रूप में निःसृत होती है वह संख्यात योजन जाकर भेद को प्राप्त होती है।

भाषा के अभिन्न और भिन्न रूप

उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट है कि शास्त्रकारों ने भाषा के दो रूप माने हैं—एक अभिन्न रूप और दूसरा भिन्न रूप। अभिन्न रूप भाषा या ध्वनि के मूल रूप का द्योतक है तथा भिन्न रूप भाषा या ध्वनि के मूल में परिवर्तन या परिणमन होकर भिन्न रूप में रूपांतरित होने का द्योतक है। साथ ही यह भी ज्ञातव्य है कि भिन्नत्व अर्थात् रूपांतर को प्राप्त हुई भाषा ही अनंत गुनी परिवर्द्धित होकर लोक की चरम सीमा तक पहुंचती है तथा अरूपांतरित, असली, मूल रूप में

विद्यमान अर्थात् अभिन्न भाषा परिवर्द्धन को प्राप्त नहीं होती है व स्वाभाविक गति से बढ़ती हुई संख्यात योजन चलकर नष्ट हो जाती है अर्थात् भाषावर्गणाएं विखर जाने से भाषा, भाषा रूप नहीं रहती है। फिर वे विखरी हुई भाषावर्गणाएं असंख्यात योजन चलने के पश्चात् भिद जाती हैं अर्थात् फिर वे भाषावर्गणाओं के रूप में भी नहीं रहती हैं।

उपर्युक्त भाषा या ध्वनि विषयक जैनसिद्धांत से वर्तमान विज्ञान भी सहमत है। आधुनिक विज्ञान भी ध्वनि के दो रूप मानता है। प्रथम मूल रूप और द्वितीय परिवर्तित रूप। मूल रूप में ध्वनि वस्तु, व्यक्ति, वाद्य आदि से जिस रूप में निकलती है उसी रूप में चारों ओर फैलती है। इसकी प्रसारण की गति ११०० मील प्रति घण्टा है। इस गति से बढ़ती हुई यह ध्वनि आगे चल कर नष्ट हो जाती है। इस मूल रूप में ध्वनि किसी सीमा तक ही जा सकती है। यह ग्रह-नक्षत्रों तक नहीं पहुंच सकती। ध्वनि का यह रूप जैनागम में वर्णित भाषा के अभिन्न रूप से साम्य रखता है। लेकिन जब इसी मूल ध्वनि को रेडियो आदि स्टेशनों पर यंत्रों द्वारा विद्युत् तरंगों में रूपांतरित कर दिया जाता है तो इसकी गति में असाधारण वृद्धि हो जाती है। फिर वह प्रति सैकिण्ड १,८६,२०० मील अर्थात् तीन लाख किलोमीटर से अन्तरिक्ष में निर्बाध गति करती हुई ब्रह्माण्ड में प्रसारित होती है। ध्वनि का यह रूप जैन-दर्शन में वर्णित भाषा के अभिन्न रूप में साम्य रखता है। परन्तु इस रूप में इतनी तीव्र गति से चलने पर भी ध्वनि को नयनों से दृश्यमान पदार्थ नक्षत्र-निहारिकाओं को पार करने में भी अरबों-खरबों वर्ष लग जाते हैं। अतः 'क्षणमात्र में ध्वनि लोकांत तक पहुँच जाती है' इस जैनसिद्धांत की पुष्टि होना शेष रह जाता है।

जैनदर्शन के उपर्युक्त सिद्धांत की पुष्टि मनोविज्ञान के क्षेत्र में हुए टेलीपैथी के आविष्कार से होती है। अमेरिकन और रूसी वैज्ञा-

निक प्रयोगों के ग्राधार पर इस कथन की पुष्टि करते हैं कि टेलीपैथी (दूर विचार-प्रेषण क्रिया) द्वारा शब्द मन के माध्यम से एक क्षण में विश्व के किसी भी ग्रोर छोर तक पहुच जाते हैं। लाखों-करोड़ों मील दूर भ्रमण करने वाले कृत्रिम उपग्रहों में समाचार भेजने के लिए इसी प्रक्रिया को सबसे ग्रधिक उपयुक्त माना जाता है। ग्रतः ग्रंतरिक्ष विशेषज्ञ वैज्ञानिकों का ध्यान इसी प्रणाली की ग्रोर लगा हुग्रा है।

बेतार के तार का सिद्धांत भी जैनग्रन्थों में हजारों वर्ष पूर्व प्रतिपादित हो चुका था, यथा—

तएणं तीसे मेघोघरसिग्रगंभीरमहुरयरसद्दाए जोयणपरिमंडलाए सुघोसाए घंटाए तिक्खत्तो उल्लालिग्राए समाणीए सोहम्मे कप्पे ग्रण्णेहिं एगूणेहिं बत्तीसविमाणावाससयसहस्सेहिं, ग्रण्णाइं एगूणाइं बत्तीसं घण्टासयसहस्साइं जमगसमगं कणकणारावं काउं पयत्ताइं पि हुत्था। —जम्बूद्वीप, ग्र. ५ पृ. २८५

ग्रर्थात् सुघोषा घण्टा का शब्द ग्रसंख्य योजन दूरी पर रही हुई घण्टाग्रों में प्रतिध्वनित होता है। विचारणीय तो यह है कि यह विवेचन उस समय का है जब रेडियो, वायरलेस ग्रादि का ग्राविष्कार नहीं था।

ग्राशय यह है कि शब्द या ध्वनि विषयक पढ़ाई हजार वर्ष पूर्व प्रतिपादित जैन सिद्धांत-ध्वनि को पुद्‌गल रूप मानना, सम्पूर्ण लोक में व्याप्त होना, एक क्षण में लोकान्त तक पहुँच जाना, ग्रसंख्य योजन दूर ध्वनित होना ग्राज विज्ञान जगत में सर्वमान्य सिद्धांत हो गये हैं।

तम ग्रौर छाया

शब्द के ग्रतिरिक्त ग्रंधकार, छाया, प्रकाश, उद्योत ग्रौर ग्रातप पुद्‌गल की सूक्ष्म पर्यायें हैं। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि ये सब पर्यायें प्रकाश या प्रकाश से संबंधित विभिन्न रूप हैं यथा—

तम—प्रकाश का विरोधी कृष्ण-रूप जो देखने में बाधक हो।

छाया—प्रकाश के अवरोध या प्रकाश से उत्पन्न प्रतिबिम्ब का रूप।

प्रभा—प्रकाश का परावर्तित रूप।

उद्योत—स्वयं पदार्थ से निकलने वाला प्रकाश।

आतप या ताप—उष्ण किरणें।

विज्ञान इन सब को शक्ति रूप से स्वीकार करता है। यह पहले के लेख में बताया जा चुका है कि अब विज्ञान जगत् में शक्ति और पदार्थ दो भिन्न तत्त्व नही रह गये हैं, इनमें केवल रूप का ही भेद है। अतः उपर्युक्त पुद्गल की सब पर्यायें विज्ञान की दृष्टि में पदार्थ हैं, यह निस्संकोच कहा जा सकता है। आगे इन पर क्रमशः विचार किया जा रहा है।

तम

जो देखने में बाधक हो और प्रकाश का विरोधी हो, वह तम या अंधकार है—'तमो दृष्टिप्रतिबन्धकारणं प्रकाशविरोधि'

—सर्वार्थसिद्धि, ५.१४

कतिपय जैनेतर दार्शनिकों ने अंधकार को वस्तु न मानकर केवल प्रकाश का अभाव माना है, परन्तु यह उचित नहीं है क्योंकि यदि ऐसा मान लिया जाय तो यह भी कहा जा सकता है कि प्रकाश भी कोई वस्तु नहीं है, वह तो केवल अंधकार का अभाव है।

विज्ञान भी अंधकार को प्रकाश का अभाव रूप न मानकर पृथक् वस्तु मानता है। विज्ञान के अनुसार अन्धकार में भी इन्फ्रा रक्त ताप किरणों (Infra-red heat rays) का सद्भाव है जिनसे बिल्ली और उल्लू की आंखें तथा कुछ विशिष्ट आचित्रीय पट (Photographic plates) प्रभावित होते हैं। इससे सिद्ध होता है कि अन्धकार का अस्तित्व दृश्य प्रकाश (Visible light) से पृथक् है।

व्यतिकरण पट्टियों (Interference bands) पर यदि गणना यन्त्र (Counting machine) चलाया जाय तो काली पट्टी (Dark Band) में से भी प्रकाश विद्युत रीति से (photo electrically) विद्युदणुओं (Electrons) का निःसरित होना सिद्ध होता है। तात्पर्य यह है कि काली पट्टी केवल प्रकाश के अभाव रूप नहीं है, उसमें ऊर्जा (energy) होती है और इसी कारण उसमें विद्युदणु निकलते हैं। ऊर्जा पदार्थ का ही एक रूप है, अतः अन्धकार पदार्थ है।

छाया

'प्रकाशावरणनिमित्ता' —सर्वार्थसिद्धि, ५.२४

अर्थात् प्रकाश पर आवरण पड़ने पर छाया उत्पन्न होती है। प्रकाशपथ में अपारदर्शक कायों (opeque bodies) का आ जाना आवरण कहलाता है। छाया अन्धकार की कोटि का ही एक रूप है, इस प्रकार यह भी प्रकाश का अभाव-रूप नहीं अपितु पुद्गल की पर्याय है। अंधकार के वर्णन में कथित काली पट्टियों के रूप में जो छाया (Shadows) होती है, उसे विज्ञान ऊर्जा का ही रूपान्तर मानता है। इससे सिद्ध होता है कि 'छाया' पदार्थ की एक पृथक् पर्याय है।

जैन ग्रन्थों में छाया का विवेचन करते हुए कहा गया है कि विश्व के प्रत्येक इन्द्रियगोचर होने वाले मूर्त्त पदार्थ से प्रतिपल तदाकार प्रतिच्छाया प्रतिबिंब रूप से निकलती रहती है और वह पदार्थ के चारों ओर निरंतर आगे बढ़ती रहती है। मार्ग में जहां उसे अवरोध या आवरण मिल जाता है, वहां ही वह दृश्यमान हो जाती है। प्रतिच्छाया के रश्मि-पथ में दर्पणों (Mirrors) और अणुवीक्षों (Lenses) का आ जाना भी एक प्रकार का आवरण ही है। इस प्रकार के आवरण से वास्तविक (Real) और अवास्तविक (Virtual) प्रतिबिंब बनते हैं। ऐसे प्रतिबिंब दो प्रकार के होते हैं—वर्णादि विकार परि-

गत और प्रतिबिम्ब मात्रात्मक ।[1] वर्णादि विकार परिणत छाया में विज्ञान के वास्तविक प्रतिबिम्ब लिये जा सकते हैं जो विपर्यस्त (inverted) हो जाते हैं और जिनका परिमाण (Size) बदल जाता है। ये प्रतिबिंब प्रकाश-रश्मियों के वास्तविक (Actually) मिलन से बनते हैं और प्रकाश की ही पर्याय होने से स्पष्टतः पौद्गलिक हैं। प्रतिबिंबात्मक छाया के अंतर्गत विज्ञान के अवास्तविक प्रतिबिंब (Virtual images) रखे जा सकते है, जिनमें केवल प्रतिबिंब ही रहता है। प्रकाश-रश्मियों के मिलने से ये प्रतिबिंब नहीं बनते ।[2]

जिस प्रकार ध्वनि विद्युत् तरंगों का रूप लेकर लोकान्त तक पहुंचती है, उसी प्रकार प्रतिच्छाया भी विद्युत् तरंगों का रूप ले विश्वव्यापक बनती है और जिस प्रकार लाखों मील दूर से प्रसारित ध्वनि रेडियो द्वारा ग्रहण की जाकर सुनी जा सकती है, इसी प्रकार लाखों मील दूर से प्रसारित प्रतिच्छाया भी टेलीविजन से ग्रहण की जाकर पर्दे पर देखी जा सकती है। चन्द्रमा में उतरे हुए अंतरिक्ष यानों द्वारा वहां की धरती के दृश्यों के प्रसारित प्रतिबिंब पृथ्वीवासियों को परदे पर दिखाई देना इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है। तात्पर्य यह है कि छाया या प्रतिच्छाया तरंग रूप होती है और तरंगें शक्ति या पदार्थ हैं, यह विज्ञान का सर्वमान्य सिद्धान्त है। कैमरे के लेंस पर पड़ी हुई प्रतिच्छाया की प्लेट पर फोटो आ जाती है। इससे भी यह सिद्ध होता है कि प्रतिच्छाया पदार्थ है अन्यथा प्लेट या रील पर उसका प्रतिबिंब नहीं आ सकता।

ध्वनि की विद्युत् तरंगों और प्रतिच्छाया की विद्युत् तरंगों में एक मौलिक भेद है और वह यह है कि ध्वनि की विद्युत् तरंगें सब

---

१ सा द्वेधा वर्णादिविकारपरिणता प्रतिबिम्बमात्रात्मिका चेति ।
—सर्वार्थसिद्धि ५.२४

२ मुनिश्री हजारीमल स्मृति ग्रंथ, पृ. ३८६

दिशाओं में मुड़ती हुई भी फैलती हैं, जबकि प्रतिच्छाया की विद्युत् तरगें विश्व के प्रत्येक स्थान पर ग्रहण की जाकर सुनी जा सकती हैं, परन्तु पृथ्वी के किसी स्थान से प्रसारित टेलीविजन एक निश्चित व अल्प दूरी के आगे नहीं देखा जा सकता। इसीलिए टेलीविजन प्रसारण स्टेशन उपग्रह पर बनाये जाते हैं।

"आधुनिक विज्ञान ने ऐसे इलेक्ट्रानिक तोलमापी तैयार किये हैं जिनकी सूक्ष्म-मापकता अकल्पनीय है, जिनसे १००० पृष्ठों के ग्रन्थ के अन्त में बढ़ाये हुये एक फुलस्टाप, किसी भी वस्तु की परछाई जैसी न कुछ वजनी वस्तुओं के भी भार ज्ञात किये जा सकते है।"[1] विज्ञानलोक का यह उल्लेख यह सिद्ध करता है कि परछाई पदार्थ तो है ही साथ ही, इतनी भारवान भी है जिसे तोला जा सकता है।

प्रतिबिंब कभी-कभी मृग-मरीचिकाओं के रूप में भी प्रकट होते हैं। ग्रीष्म ऋतु में दोपहर के समय रेगिस्तान या जंगलों में जहाँ कई मीलों तक पानी का नामोनिशान भी नहीं होता है, वहां पानी से भरे जलाशय दिखाई देने लगते हैं। मृग उनमें वास्तविक पानी भरा समझ कर अपनी प्यास बुझाने के लिए वहां पहुंचता हैं। लेकिन वहां उसे पानी नहीं मिलता है। फिर उसे दूसरी जगह पानी दिखाई देता है और वह उधर दौड़ता है। इस प्रकार बार-बार पानी से प्यास बुझाने के लिए दौड़ता है परन्तु पानी कहीं नहीं मिलता। सूरज की तेज धूप व गर्मी तथा दौड़ने में प्यास बढ़ती जाती है और वह प्यास से तड़प-तड़प कर मर जाता है। इस प्रकार के सभी दृश्य जो कि सचमुच में कुछ नहीं होते, केवल दिखाई देते हैं—उन्हें मृग-मरीचिका के नाम से कहा जाता है।

मृग-मरीचिकाएं अनेक विचित्र रूपों में प्रकट होती हैं यथा—(१) वस्तुओं का अस्तित्व न होने पर भी वस्तुएं दिखाई देना, गंधर्व नगरों

१ विज्ञानलोक, दिसम्बर १९६४, पृ. ४२

का दिखाई देना, (२) एक वस्तु के एक से अधिक प्रतिबिंब दिखाई देना, (३) वस्तुओं का अदृश्य हो जाना आदि ।

एक बार एक यात्री अरब के रेगिस्तान में बगदाद से बेबीलोन आ रहा था। उसे दोपहर में दिखाई पड़ा कि पास में ही कुंआ है और उसके आसपास खजूर के पेड़ खड़े हैं। वह चलता गया परन्तु तीस मील चलने पर उस स्थान पर पहुंचा ।

सिसली द्वीप और इटली के मध्य में स्थित मैसानी जलडमरू में कभी तो आकाश में, कभी जल पर घर, महल, सडकें, वृक्ष, मानव दिखाई देते हैं। वहां के निवासी इस मृग-मरीचिका को फाता मोर-गाना कहते हैं ।

आज से पौने दो सौ वर्ष पूर्व एक दिन इंगलैंड में दक्षिणी समुद्र तट के लोगों ने देखा कि वहां से पचास मील दूर स्थित फ्रांसीसी समुद्र तट की लंबी पट्टी उनके तट के ऊपर के आकाश में दिखाई दे रही है। उस समय फ्रांसीसी तट पर जो वस्तुएं थीं, वे सब की सब उसी रूप में वहां तीन घण्टे तक दिखाई दीं ।

उत्तरी व दक्षिणी ध्रुवों में वहां से सैकडों मील दूर स्थित नगर, पर्वत, जहाजों के प्रतिबिंब स्पष्ट दिखाई देते हैं ।

सुमात्रा में एक कुंआ है। उसमें कोई झांकता है तो उसे दो प्रति-बिंब दिखाई देते है। एक तो झांकने वाले का अपना और दूसरा किसी अन्य व्यक्ति का। यह अपरिचित व्यक्ति कौन है। यह रहस्य अभी तक भी नहीं खुला है। इसी प्रकार इंगलैंड के लंकाशायर नगर में एक दूकान पर लगे दर्पण में दो प्रतिबिंब एक साथ दिखाई पड़े। एक तो देखने वाले व्यक्ति का और दूसरा एक स्त्री का, जो अपने बच्चे को गोद में लिए बैठी दिखाई पड़ती थी। सारा लंकाशायर नगर देखने को उमड़ पड़ा। तीन दिन तक दर्पण से वह स्त्री दिखाई दी, फिर दिखाई देना बंद हो गया ।

इटली में उसेला स्थान पर बना एक पुराना किला बड़े विचित्र रूपों में दिखाई देता है। सूर्योदय के समय यह किला पूरा दिखाई देता है और सूर्यास्त से कुछ पूर्व भी यह किला पूरे का पूरा दिखाई देता है लेकिन दोपहर में वह किला खंडहर रूप में दिखाई पड़ता है।

लेखक को मृग-मरीचिकाओं के दर्शन तो दिन में दोपहर के समय वर्ष में अनेक बार हो ही जाते हैं, परन्तु एक बार केकड़ी नगर में कड़ाके की सर्दी पड़ रही थी, उसी समय प्रातःकाल एक विचित्र मरीचिका क्षितिज पर दिखाई दी। चमकीला जल बाढ़ के समान उमड़ता नजर आया और कुछ मिनटों में वह सारा दृश्य गायब हो गया।

दर्पण पर पड़ने वाले प्रतिबिम्ब, पानी में पड़ने वाली परछाई आदि भी छाया के ही रूप हैं। ये सब पुद्गल के ही रूप या पर्यायें हैं। पुद्गल रूप होने से ही इनके फोटो (रूप चित्र) आ जाते हैं। यदि इनका अस्तित्व ही न होता तो फोटो आना कभी संभव न होता।

प्रभा-उद्योत

जैनदर्शन में प्रभा व उद्योत को पुद्गल की ही पर्याय कहा गया है। प्रभा व उद्योत को सामान्य भाषा में प्रकाश कहा जाता जा सकता है। प्रकाश जैनदर्शन में पदार्थ की ही एक अवस्था माना गया है।

वर्तमान में विज्ञान ने प्रकाश के विषय में बहुत अनुसंधान व प्रयोग किये हैं। उनमें सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण खोज व प्रयोग है लेसर किरण का। लेसर रश्मियां प्रकाश का घनीभूत रूप है। लेसर-रश्मियों की शक्ति के सम्बन्ध में अनुमान लगाया गया है कि एक वर्ग सेंटीमीटर प्रकाशीय क्षेत्रफल में साठ करोड़ वाट की शक्ति छिपी होती है। सारी शक्ति को लैंस द्वारा जब एक सेंटीमीटर में घनीभूत कर दिया

जाता है तो उससे निकलने वाली रश्मियां क्षण भर में मोटी से मोटी इस्पात-चादर को गलाकर भेद देती हैं। वर्तमान में अनेक कारखानों में इस्पात की चादर को काटने का काम लेसर से ही लिया जाता है।

वस्तुतः लेसर एक ऐसा शुद्ध प्रकाश है जिसमें केवल एक ही आवृत्ति की तरंगें होती हैं तथा प्रत्येक तरंग एक दूसरी के समानान्तर चलती है व उनमें कुछ भी कालान्तर नहीं होता। अतः लेसर का प्रकाश तीव्र होता है। साधारण प्रकाश अपने स्रोत से निकलकर चारों ओर फैलता जाता है। लेसर का प्रकाश एकदिशी होता है, वह फैलता नहीं, लेसर-प्रकाश संसक्त है।

अपार शक्ति-धारिणी लेसर-किरणों के कितने हो उपयोग होने लगे हैं। किसी भी स्थान पर इन किरणों से न्यूनतम मोटाई का सुराख करना इतना ही सरल है जितना कि राइफल की गोली का मक्खन की डली में से निकलना। इन किरणों से इंच के दस हजारवें भाग तक लघु छिद्र करना संभव है। हीरे जैसे कठोरतम पदार्थ में लघुतम छेद करने व काटने आदि में इसका उपयोग होने लगा है।

लेसर किरणों से कठोर धातु को क्षण भर में पिघलाने का काम लिया जाने लगा है तथा किन्हीं दो या अधिक धातुओं को पिघलाकर उन्हें जोड़ने की क्रिया सैकण्डों में पूरी हो जाती है। यहां तक कि भारी अणुओं में होनेवाली अज्ञात रासायनिक क्रियाएँ जैसे अनेक प्रकार के परमाणुओं का एक अणु बनाना अथवा एक अणु में से अनेक अणु तैयार करना, अणु के किसी विशेष भाग को अलग करना आदि कार्य बड़े आसान हो गये हैं। घण्टों के काम सैकण्डों में होने लगे हैं।

आंखों के पीछे लगे परदे (रेटीना) का अपने स्थान से हट जाने पर आदमी अंधा हो जाता है। इसका पहले कोई उपचार नहीं था।

परन्तु अब चिकित्सक लेसर किरणों से रेटीना को पिघलाकर उसे अपने स्थान पर जमाकर बड़ी ही शीघ्रता से वैल्डिंग कर देते हैं। लेसर किरणों से किन्हीं दो वस्तुओं को जोड़ने का काम बिना अधिक ऊष्मा पैदा किये सूक्ष्मता से हो जाता है।

मानव शरीर के उपरि भाग को बिना चीर-फाड़ किये, लेसर-किरणें शरीर के भीतरी भाग में प्रकाश कर शल्य-चिकित्सा सफलता-पूर्वक कर देती हैं। यदि इन किरणों को पृथ्वी पर एक स्थान से दूसरे स्थान पर फेंकने का प्रयत्न किया जाये तो कश्मीर में स्थित उपकरण से निकलने वाली लेसर किरणें कन्याकुमारी में रखी पतीली में चाय उबाल सकती हैं। इनसे आकाश में गतिमान किसी भी यान को पृथ्वी से ही शक्ति पहुंचाई जा सकती है। जैसे कोई उप-ग्रह गति मन्द होने के कारण नीचे गिरने लगे तो लेसर किरणों के दबाव से अपनी कक्षा में पुनः स्थापित किया जा सकता है।

लेसर की एक छड़ी बनाई गई है जो अंधों को मार्ग-दर्शन का काम देगी। छड़ी की नोंक से लेसर किरणें निकलेंगी और मार्ग में रुकावट डालने वाली वस्तुओं से टकराकर पुनः उपकरण में लौट आयेंगी। लौटी हुई किरण द्वारा रुकावट डालने वाली वस्तुओं का ज्ञान थपकी द्वारा अंधे की हथेली पर आयेगा, जिससे वह जान सके कि उधर जाना ठीक है या नहीं।

प्रकाश मात्र चाहे वह सूर्य का आतप हो अथवा चन्द्र का उद्योत, मणि की प्रभा हो अथवा बिजली की चमक, अपने केन्द्र के चारों ओर सतत प्रति सैकिण्ड १८६२६४ मील की गति से फैलता है। प्रकाश की यह गति सदैव एक-सी रहती है, इसीलिए वैज्ञानिकों ने आकाशीय पिण्डों की गति, दूरी आदि मापने में प्रकाश-गति को ही मानदंड माना है।

कुछ समय पूर्व तक वैज्ञानिक प्रकाश को तरंगमय शक्ति ही

मानते थे, पदार्थ नहीं। परन्तु 'क्वांटम-सिद्धान्त' ने यह सिद्ध किया है कि प्रकाश न तो पूर्णतः सूक्ष्म कण-पुंज है, न पूर्णतः तरंग-पुंज, यह दोनों है। जब 'एक्स' किरण-पुंज विद्युत्-कणों पर अलग-अलग रूप से आघात करता है, तब वह वर्षा की तीव्र बून्दों अथवा बंदूक की गोलियों की तरह आघात करता है; पर जब वही प्रकाश ठोस स्फटिक पर आघात करता है तब तरंग-पुंजों की तरह उस पर टकराता है। किन्तु आधुनिकतम विज्ञान ने यह प्रमाणित कर दिया है कि कहीं पर प्रकाश सूक्ष्म कणों का रूप धारण करता है और कहीं तरंगों का। प्रकाश के सूक्ष्म कण तथा उसके सूक्ष्म तरंग पुंज मूलतः एक ही तत्त्व है।

आधुनिक विज्ञान ने प्रकाश को न केवल पदार्थ ही, अपितु उसे भारवान भी स्वीकार कर लिया है। प्रकाश-विशेषज्ञ वैज्ञानिक का कथन है कि—"सूर्य के प्रकाश-विकिरण का एक निश्चित वजन होता है, जिसे आज के गणितज्ञों ने ठीक-ठीक नाप लिया है। प्रत्यक्ष में यह वजन बहुत कम होता है। पूरी एक शताब्दी में पृथ्वी के एक मील के घेरे पर सूर्य के प्रकाश का जो चाप पड़ता है, उसका वजन एक सैकेण्ड के पचासवें भाग में होनेवाली मूसलाधार वर्षा के चाप के बराबर है। पर यह वजन इतना कम इसलिए लगता है कि विराट् विश्व में एक मील का क्षेत्र नगण्य से भी नगण्य है। यदि सूर्य के प्रकाश के पूरे चाप का वजन लिया जाय, तो वह प्रति मिनट २५,००,००,००० टन निकलता है। एक मिनट का जब यह हिसाब है, तब एक घण्टे का हिसाब लगाइये और फिर एक दिन का, मास का, वर्ष का, सैकड़ों, हजारों, लाखों, करोड़ों, अरबों वर्षों का हिसाब लगाइये। तब पता चलेगा कि प्रकाश-विकिरण के चाप का वजन क्या महत्त्व रखता है।"

आशय यह है कि विज्ञान ने आज यह प्रत्यक्ष प्रमाणित कर दिया है कि अन्य साधारण पौद्गलिक पदार्थों की भांति प्रकाश भी

विविध कार्यों के करने में सक्षम, गतिमान व भारवान पौद्गलिक पदार्थ है।

आतप

जैनदर्शन में प्रकाश के समान आतप को भी पुद्गल की ही एक पर्याय अर्थात् अवस्था माना है। आतप शब्द तप् धातु से बना है जिसका अर्थ है, ताप या उष्ण किरणें। परन्तु वर्तमान में आतप केवल सूर्य की धूप को ही कहा जाने लगा है। लगता है कि यह अर्थ का संकोच हो गया है। कारण कि उद्योत अर्थात् प्रकाश को पुद्गल की पर्याय पहले ही कहा जा चुका है तब फिर उसी प्रकाश के साथ उष्ण गुण जोड़कर अलग से पुद्गल की पर्याय कहने का कोई अर्थ नहीं है। क्योंकि उष्ण या शीतल गुण तो पुद्गल की प्रत्येक पर्याय में रहता ही है। गुण के आधार पर पर्याय में भेद करना अपेक्षित नहीं लगता है। उष्ण गुण और आतप पर्याय को समझने के लिए जल का ही उदाहरण लें। जल की गैस (वाष्प) द्रव (तरल पानी), ठोस (बर्फ) ये भिन्न-भिन्न अवस्थाएं हैं। ये जल की पर्यायें हैं। ये सब अवस्थाएं किसी एक अवस्था की न्यूनाधिक रूप नहीं हैं। प्रत्येक अवस्था दूसरी अवस्था से भिन्न है। परन्तु भाप, पानी, बर्फ इन तीनों अवस्थाओं में शीत-उष्ण, हलका, भारी आदि गुण अवश्य रहते हैं। केवल इनमें न्यूनाधिकता होती है। तात्पर्य यह है कि पर्याय का स्वतन्त्र अस्तित्व होता है। वह क्रमभावी होती है अर्थात् एक के बाद दूसरी होती है, जबकि गुण सहभावी होता है अर्थात् सदा बना रहता है और गुण गुणी से अलग नहीं हो सकता। जैसे जीव के ज्ञान, दर्शन गुण जीव से अलग नहीं हो सकते, इसी प्रकार पुद्गल के वर्ण, गंध, रस, हलकापन, भारीपन, चिकनापन, खुरदरापन आदि गुण पुद्गल से कभी अलग नहीं हो सकते। परन्तु उष्णता के सम्बन्ध में यह बात नही है। हम देखते हैं कि आग हटा दी जाती है फिर भी उष्णता शेप रह जाती है। उष्णता की रश्मियां प्रकाश की

रश्मियों की तरह विकिरण होकर दूर-दूर तक फैलती है। जैसे प्रकाश का पदार्थ से भिन्न अस्तित्व देखा जाता है उसी प्रकार उष्णता का भी पदार्थ से भिन्न स्वतन्त्र ताप-ऊर्जा के रूप में अस्तित्व देखा जाता है, इसी ताप-रूप में आतप पुद्गल की पर्याय है।

यदि पुद्गल का कालापन, पीलापन, खटास, मिठास, सुगन्ध, दुर्गन्ध, हलकापन, भारीपन, शीतलता, उष्णता आदि गुणों के आधार पर पर्याय के भेद, प्रभेद किये जायं तो उनकी गिनती अनंत हो जायेगी। अतः गुणों के आधार पर पुद्गल की पर्यायों का वर्णन नहीं किया गया है, प्रत्युत् अपनी मौलिक स्वतन्त्र अवस्था के आधार पर ही तप, छाया, उद्योत, आतप आदि पर्यायों का वर्णन किया गया है और लगता है कि आतप ताप की स्वतन्त्र अवस्था के रूप में आया है। यह रूप आज विज्ञान से भी सिद्ध हो रहा है।

विज्ञान जगत में ताप को ऊर्जा की एक अलग इकाई के रूप में स्वीकार किया गया है। जैसी प्रकाश की किरणे हैं वैसी ही ताप की भी किरणें हैं। सूर्य के प्रकाश की किरणों के साथ-साथ ताप की किरणें भी चलती हैं। सूर्य से निकली इन्हीं प्रकाश और ताप की सहवासी किरणों को धूप या आतप कहा जाता है, जिसका अर्थ है उष्णतायुक्त प्रकाश, परन्तु जैनदर्शन में आतप शब्द का अर्थ सूर्य की धूप में संकुचित न होकर विस्तृत अर्थ का द्योतक है जिसे वैज्ञानिक भाषा में ताप कहा जाता है। यदि यह न माना जाय तो ऊर्जा रूप में जो ताप की किरणें हैं उनका समावेश पुद्गल की किसी पर्याय में करें, यह प्रश्न उपस्थित हो जायेगा।

जैनदर्शन में अग्नि को आतप नहीं माना है व धूप को आतप माना है। इससे भी इस बात की पुष्टि होती है कि वस्तु में रही हुईउष्णता वस्तु या द्रव्य का गुण है और उष्णता का वस्तु से अलग अस्तित्व वस्तु या द्रव्य की पर्याय रूप में है। आग रूप लकड़ी, कोयला आदि इन्धनों

की उष्णता कोयला आदि वस्तुओं का उष्ण गुण (तापमान) है। यह आतप नहीं है। आतप है आग की आंच (ताप), जो आग्नेय पदार्थ से पैदा होकर चारों ओर फैलती है और जिसका अनुभव आग से दूर बैठा व्यक्ति करता है। यह ताप आग से निकला है फिर भी इसका उसी प्रकार भिन्न अस्तित्व है, जिस प्रकार सूर्य से निकले प्रकाश या ताप का सूर्य से भिन्न अस्तित्व है। ताप या धूप भिन्न होने से ही उसका स्थानान्तरण होता है। अतः वह पर्याय है। गुण पदार्थ से अभिन्न होता है, वह पदार्थ से कभी भिन्न नहीं हो सकता। पुद्गल के उष्ण-गुण व आतप पर्याय के इतने सूक्ष्म भेद को आज से अढाई हजार वर्ष पूर्व बतला देना अतिशय ज्ञान का ही द्योतक है।

अभिप्राय यह है कि उष्णता के दो रूप देखे जाते हैं—एक पदार्थ के साथ अनिवार्य रूप से लगा हुआ रूप, जिसे उस वस्तु का तापमान कहा जाता है। यह तापमान रूप उष्णता उस वस्तु का गुण है। उष्णता का दूसरा रूप ताप-ऊर्जा के स्वतन्त्र अस्तित्व के रूप में मिलता है। इसे ही आतप रूप पुद्गल की पर्याय कहा गया है। इसे ग्रहण किया जा सकता है, छोड़ा जा सकता है। साथ ही यह स्वयं गतिमान एवं भारवान भी है। ये सब विशेषताएं आतप रूप पुद्गल की पर्याय की उद्योत पर्याय व उष्ण गुण से भिन्न अस्तित्व की द्योतक है।

ताप के भार को समझने के लिए कुछ सरल उदाहरण दिये जा सकते हैं। यथा—३००० टन पत्थर के कोयले को जलाने से जितना ताप उत्पन्न होगा उसका भार लगभग एक माशे के बराबर होगा। एक हजार टन पानी को वाष्प में परिणत करने के लिए जितने ताप की आवश्यकता होती है उसका भार एक ग्राम के तीसवें भाग से भी कम होता है।

जिस प्रकार इलेक्ट्रोन तथा प्रोटोन एक दृष्टि से पदार्थ है और

दूसरे दृष्टिकोण से वैद्युतिक तरंगों के अतिरिक्त कुछ नहीं हैं, उसी प्रकार प्रकाशविकिरण के सम्बन्ध में हम कह सकते हैं कि वह पदार्थ का तरंग रूप है और पदार्थ के सम्बन्ध में कह सकते हैं कि वह विकिरण का वर्फ की तरह जमा हुआ रूप है।

ऊपर का तथ्य आतप या ताप पर भी घटित होता है कि ताप-विकिरण पदार्थ का तरंग रूप है और पदार्थ ताप-विकिरण का वर्फ की तरह जमा हुआ रूप है।

जैनदर्शन में आतप के लिए सूर्य की धूप को उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया गया है। विज्ञान-जगत् में भी ताप के सम्बन्ध में खोज करते हुए सूर्य की धूप को ही आधार बनाया गया है। आज से ठीक पौने दो सौ वर्ष पूर्व प्रसिद्ध खगोल शास्त्री विलियम हर्शेल ने एक प्रयोग किया था। उसने सूर्यकिरणों के एक पुंज को प्रिज्म द्वारा झुकाकर थर्मामीटर की सहायता से यह जाना कि जब वर्णक्रम में लालरंग के नीचे थर्मामीटर रखा जाता है तो वह सबसे अधिक गर्म होता है। इससे यह परिणाम सामने आया कि सूर्य से आती अदृश्य किरणें जिन्हें अवरक्त किरणें कहा जाता है यही किरणें ताप की कारण हैं।

प्रत्येक पदार्थ के भीतर अणु परमाणु निरन्तर गति करते रहते हैं और उससे जो ताप उत्पन्न होता है वह विद्युत-चुम्बकीय विकिरण के रूप में बाहर निकलता है। इसी प्रकार प्रत्येक पदार्थ बाहर से ग्रहण किये हुए ताप का कुछ अंश भी छोड़ता रहता है। जब तापमान अधिक होता है तो विकिरण का कुछ अंश प्रकाश के रूप में दिखाई देने लगता है, अन्यथा वह अदृश्य अवरक्त किरणों के रूप में रहता है।

प्रकाश में सात रंगों की किरणें होती हैं। प्रत्येक रंग की किरणों का तरंगदैर्घ्य (तरंगों की लम्बाई) अलग-अलग होता है। इस तरंग-

दैर्घ्य की भिन्नता के कारण ही रंग भिन्न-भिन्न लगते हैं। इन किरणों में जो सबसे अधिक लम्बी होती हैं वे लाल (रक्त) रंग वाली होती हैं। अवरक्त किरणें भी लाल (रक्त) किरणों के समान ही होती हैं परन्तु उनकी तरंगें लाल रंग की किरणों से भी अधिक लम्बी होती हैं और उनकी आवृत्ति (फ्रीक्वेंसी) कम होती है। ये रक्त के ठीक नीचे होती हैं। अतः अवरक्त (लाल के नीचे) कहलाती हैं। सूर्य के प्रकाश में विद्यमान ये ही अवरक्त किरणें आतप या ताप रूप में प्रकट होती हैं।

जिस प्रकार प्रकाश ऊर्जा की तरंगे हैं, इसी प्रकार अवरक्त किरणें भी ऊर्जा की तरंगें हैं और आज तो इस आतप (धूप) रूप ऊर्जा का उपयोग विविध कार्यों में होने लगा है।

ताशकन्द में बने धूपघर पानी के तापमान को बढाकर ७० डिग्री सेन्टीग्रेड तक गर्म करने तथा तापमान घटाकर शून्यडिग्री तक लाने में सहायक होते हैं। धूप-संयन्त्रों से घर में प्रकाश देने, कुएं से जल निकालने, भोजन पकाने, लकड़ी की उपज बढाने आदि कार्य लिए जाने लगे हैं।

कैमरे से पदार्थ का ही फोटो खींचा जा सकता है, शून्य या रिक्तता का फोटो नहीं खींचा जा सकता है। साधारण कैमरा पदार्थों पर पड़ी प्रकाश की प्रतिक्षिप्त किरणों को ग्रहण करता है और इससे फोटोग्राफ रूप चित्र तैयार हो जाता है। इसी प्रकार तापचित्र लेने के कैमरे भी बन गये हैं। इन कैमरों को थर्मोग्राफ कहा जाता है। ताप यदि पदार्थ न होता तो इसका चित्र लेना कभी सम्भव न होता। इन कैमरों ने प्रमाणित कर दिया है कि ताप एक पदार्थ (पुद्गल की पर्याय) है।

थर्मोग्राफ-यन्त्र जिस पदार्थ का ताप चित्र लेना हो, उसमें से निकलने वाली अवरक्त [illegible] ग्रहण करता है।

तापचित्र के उपयोग से आजकल महत्वपूर्ण कार्य होने लगे हैं। स्त्रियों के स्तन के कैंसर का पता लगाया जा सकता है। भूमि के गर्भ में छिपी गैसों को खोजा जा सकता है। इंजनों को बन्द किए या खोले विना ही उनमें पैदा हुई खराबियों को ढूंढा जा सकता है। इससे ये कैमरे एयर-लाइन, एयर-कंडिशनिंग व बिजली सप्लाई कम्पनियों के लिये बड़े लाभदायक सिद्ध हो रहे हैं। हेलिकाप्टर में थर्मोग्राफ यंत्र रखकर दुर्गम वनों व पर्वतों में स्थित बिजली के खम्भों व तारों की खराबी का पता लगाया जाने लगा है। बिजली के यंत्रों व उपकरणों को बिना खोले ही उनकी आंतरिक गड़बड़ी को खोजा जाने लगा है। थर्मामीटर शरीर के भीतरी अवयवों के तापमान की सूचना नहीं दे सकता। थर्मोग्राफ यह काम कर देता है। शरीर के भीतर घाव कितने गहरे हैं, भर रहे हैं आदि जानकारी इन कैमरों से हो जाती है। ये कैमरे दमकलवालों, चुंगी कार्यालयों के लिए भी बड़े उपयोगी साबित हो रहे हैं।

आशय यह है कि आज आतप या ताप की किरणों को ग्रहण किया जा सकता है, चित्र लिया जा सकता है तथा अनेक कार्यों में उपयोग किया जा सकता है। इसमें भार व गति है। विज्ञान द्वारा प्रस्तुत इन विशेषताओं से आज साधारण व्यक्ति भी यह सहज समझ सकता है कि आतप पुद्‌गल की पर्याय है। □